उपसर्गजयी सुकमाल

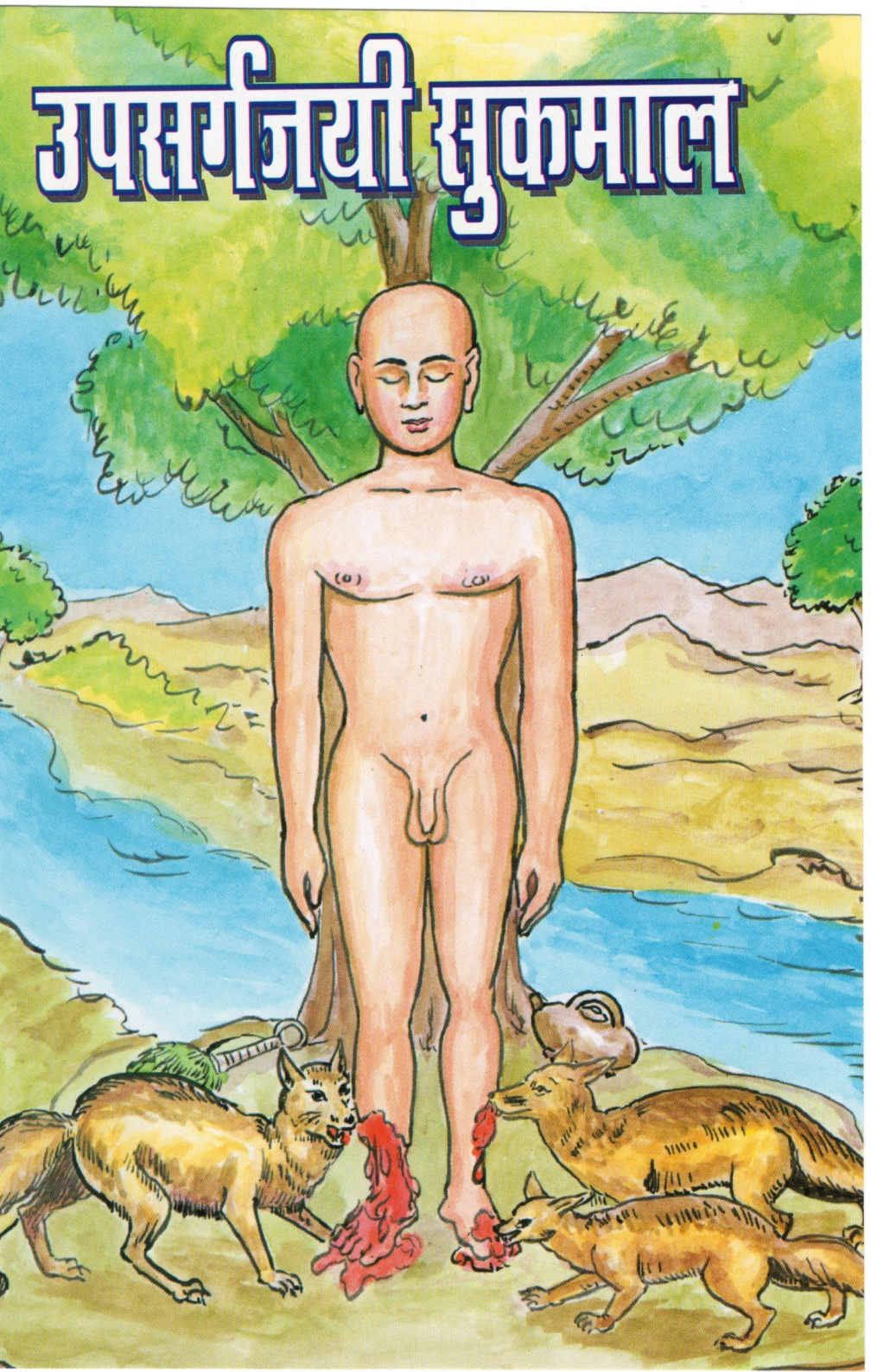

उपसर्गजयी सुकमाल

लेखिका :

ब्र. विमलाबेन, जबलपुर

प्रकाशक :

श्री जिनसेनाचार्य प्रकाशन संस्थान

विमल कुटीर, दीक्षितपुरा, लार्डगंज

जबलपुर (म.प्र.)

उपसर्गजयी सुकमाल	:	ब्र. बिमला बेन
प्रथम चार संस्करण (15 अगस्त 1996 से अद्यतन्)	:	12 हजार
पंचम संस्करण (26 जनवरी 2015 ई.)	:	1 हजार
योग	:	**13 हजार**

मूल्य : **12 रुपये**

प्रस्तुत संस्करण की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

1.	श्रीमती अनीता जैन, जयपुर	500.00
2.	श्री चन्दूभाई, बाँसवाड़ा	500.00
3.	गाँधी परिवार, मुम्बई	500.00
4.	गुप्तदान	500.00
5.	श्रीमती रश्मिदेवी वीरेशजी कासलीवाल, सूरत	251.00
	कुल राशि	**2251.00**

मुद्रक :
सन् एन सन प्रेस
तिलक नगर, जयपुर

प्रकाशकीय

आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामीजी का जब से मुझे सान्निध्य प्राप्त हुआ एवं उनके मुखारविंद से जिनवाणी का मर्म सुना तो मेरे मन में एक भावना जागृत हुई कि जिनवाणी माता की सेवा हमें भी करनी चाहिए। तभी से इस भावना का प्रवाह अविरल रूप से चलता रहा; मगर कुछ साकार रूप नजर नहीं आया। बहुत काल की भावना ने एक राह दी कि मेरे घर में ही इस कार्य को साकार रूप देने की सामर्थ्य रखनेवाले व्यक्ति हैं। अतः मेरी जो बड़ी बहिन बाल ब्र. विमलाबेन, जिन्होंने पूज्य गुरुदेवश्री का सतत् २० वर्ष का सान्निध्य प्राप्त किया है; उनसे ही अपनी भावना व्यक्त की तो उन्होंने तत्काल ही मेरी भावना का सहर्ष स्वागत किया।

हमारे आठों भाई-बहनों के विचार से धर्मभावना के लिये अध्यात्म, वैराग्य एवं भक्तिरस गर्भित जैन कथा साहित्य प्रकाशित करने का निर्णय हुआ। इस निर्णय के अनुसार ही हमने **"श्री जिनसेनाचार्य प्रकाशन संस्थान"** नामक संस्था का नामकरण किया।

अब इस संस्था से 'उपसर्गजयी सुकमाल' जैन कथा प्रकाशित करते समय हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है! भविष्य में भी इसतरह का सत्साहित्य प्रकाशित करने का सौभाग्य प्राप्त होता रहे; ऐसी भावना भाते हैं एवं ऐसे महान् सत्पुरुषों के समान ही हमारा जीवन पवित्र बने, यही भावना है।

समाज सत्साहित्य के स्वाध्याय से लाभान्वित होकर अपना जीवन पवित्र बनावे; इसमें ही हमारे कार्य की सफलता है।

अध्यक्षा:
श्रीमती राजकुमारी धर्मचन्दजी दिवाकर
श्री जिनसेनाचार्य प्रकाशन संस्थान, जबलपुर

दो शब्द

श्री सकलकीर्ति आचार्य द्वारा रचित संस्कृत भाषा का यह ग्रन्थ था। इसका हिन्दी एवं गुजराती अनुवाद भी हुआ है परंतु हिन्दी अनुवाद शुद्ध हिन्दी में न होकर बृजभाषा में है जो आज के व्यक्तियों को समझनें में कठिन पड़ता है। अतः मैंने आदर्शनगर दिगम्बर जैन मंदिर से मूलप्रति मंगवाकर देखा और सोचा कि आज की आधुनिक भाषा का कोई प्रथमानुयोग का ग्रन्थ देखा जाये। अतः मैंने डा. शुद्धात्मप्रभा टडैया कृत "रामकहानी" पढ़ी, उसमें से मुझे कई पहलू ख्याल में आये। एक तो मूल ग्रन्थ जो कि बहुत प्राचीन है, उसकी सम्पूर्ण विषय वस्तु संक्षेप मैं एवं आज की सीधी साधी हिन्दी भाषा मैं दिया जाना। दूसरे उसे रोचक बनाने के लिये कहीं कहीं प्रश्नोत्तरी शैली को अपनाया जाना और गूढ़ सिद्धान्तों को सरल कर प्रस्तुत किया जाना इत्यादि।

मैंने भी उसी सांचे में सुकुमाल चरित्र को ढ़ालने का प्रयत्न किया है, इसलिये इस सुकुमाल चरित्र मैं आज की सरल भाषा तो आप को सर्वत्र मिलेगी ही, परन्तु वस्तु तत्त्व की स्वतंत्रता, निमित्त—नैमित्तिक सम्बन्ध, वस्तुस्वभाव का अकर्त्तापन तथा चारों अनुयोगों में वर्णित सिद्धांतों मैं कहीं भी बाधा न आये, इस बात पर भी सूक्ष्मता से ध्यान रखा गया है। सरल—सुबोध भाषा में भक्तिरस भी भरा गया है और प्रश्नोत्तर शैली भी अपनाई गई है। वैराग्यरस तो इसकी काया ही है तथा मूलग्रन्थ की सम्पूर्ण विषय—वस्तु भी समेट ली गई है।

इस नई कृति की मुख्य विशेषता यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथमानुयोग का होने पर भी इसमें द्रव्यानुयोग और भक्तिरस का तरल प्रवाह भी उछाला गया है। यद्यपि मैंने अपनी बुद्धि अनुसार इसकी विषयवस्तु को आज की समाज को आसानी से समझ में आ जाये – इसका पूरा–पूरा ध्यान रखा गया है; परन्तु कितनी सफल हो पाई हूँ—यह तो आप लोगों की रुचि एवं पठन—पाठन से ही विदित होगा। यह मेरा प्रथम प्रयास है इसलिये गल्तियाँ होना स्वाभाविक ही है। अतः विशेषज्ञों से निवेदन करती हूँ कि मुझे मंदबुद्धि जान क्षमा करेंगे और गल्तियाँ भी अवगत कराने की कृपा करेंगे, ताकि कभी आवश्यकतानुसार आगम के आलोक में देखकर उसमें सुधार भी किया जा सके।

इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें कहीं भी पंचेन्द्रियों का एवं उनके विषयों का रसवर्धक कथन देखने को भी नहीं मिलता होने से मेरा मन इसे लिखने को तैयार हो गया, वरना मेरे वश की बात नहीं थी। मेरी रूचि अध्यात्म की होने से भी इसमें अध्यात्म की प्रचुरता देखने को मिलेगी। इस ग्रंथ का स्वाध्याय आप विशेषरुचि पूर्वक करेंगे, इसी में मेरी सफलता है।

—ब्र. विमलावेन, जबलपुर

उपसर्गजयी सुकुमाल

मंगलाचरण

वर्धमान हो ज्ञानमय केवलभानु प्रकाश।
वचनामृत का पान कर बुझे भव्य की प्यास।।
देव शास्त्र गुरु प्रणभ कर शुद्धात्म को ध्याय।
शुद्धस्वरूप चिदात्ममय जग जन को सुखदाय।।
मंगलमय सुखमाल के, आराधक सुकुमाल।
सुगुरु सुगुण को पाय के हो गये मालामाल।।

मंगलाचरण में जिन वर्धमान स्वामी को नमस्कार किया गया है, वे कैसे हैं ? वे तीन लोक के स्वामी हैं अथवा स्थावर, जंगम सकल जीवों के ईश्वर हैं, जिनके पंच कल्याणक इन्द्रादि देवों के द्वारा मनाये जाते हैं। जो सकल जगत के पूज्य हैं,चतुर्विध संघ में महान श्रेष्ठ हैं। शाश्वत आनन्दरूप हैं, जो अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि गुणों के समुद्र हैं और सत्य धर्म के प्रकाशक हैं।

हे पूज्यवर ! वह सत्य धर्म कैसा है ?

हे भव्योत्तम ! तुमने बहुत ही उत्तम प्रश्न पूछा। सत्य धर्म की जिज्ञासा से ही तुम्हारे अन्तर की भावना का परिचय हो जाता है। वह सत्यधर्म तीन लोक की लक्ष्मी और सुखों के निधानस्वरूप है। संसार सुखों को प्राप्त कराने वाला भी धर्म ही है और मुक्ति के सुखों का प्रदाता भी धर्म ही है। ऐसा धर्म इस पंचमकाल में मुनि, आर्यिका, श्रावक और श्राविकाओं के आचरण से प्रवर्त रहा है और पंचमकाल के अन्त तक प्रवर्तता रहेगा।

जिनके वचनरूपी किरणों से एकान्तमतरूपी अज्ञान–अंधकार विलय को प्राप्त होकर भव्यजनों को मुक्तिहेतु रत्नत्रयरूप धर्म प्रशस्त होता है।

सम्यग्ज्ञान की वृद्धि से शोभित होने से देवों द्वारा वर्धमान नाम प्रसिद्ध हुआ है। स्वयंबुद्ध होने से जो सन्मति कहलाते हैं। आत्मलीनता द्वारा अंतरंग क्रोधादि विषधरों को जीतने के कारण जो वीर कहलाये। मोहरूपी मदोन्मत हाथी के मद का मर्दन करने के कारण अतिवीरपने को प्राप्त हुए हैं और अनंतचतुष्टय के बल से समस्त कर्मशत्रुओं पर शाश्वत विजय प्राप्त करने के कारण जो महावीर हुए हैं। तथा जो धर्मरूपी चक्रवर्ती पद के नायक हैं। ऐसे त्रि–जगत पूज्य उन अन्तिम तीर्थंकरदेव को मैं नमस्कार करता हूँ।

तथा धर्म के स्तंभ ऐसे ऋषभादि–वीरपर्यंत चौबीस तीर्थंकरों को, वर्तमान में विद्यमान विदेहक्षेत्र स्थित श्री सीमंधरादि बीस तीर्थंकरों को, पंचम परम पारिणामिक भाव की भावना में लीन पंचपरमेष्ठियों को गुणों के धरनार गणधरों को आदि, मध्य और अन्त रहित जिसका निर्मल शरीर है, अंग और अंगबाह्यरूप से जो निर्मित है, और जो चक्षुष्मति अर्थात् जाग्रतचक्षु है। –ऐसी श्रुतदेवी जिनवाणी माता को नमस्कार करता हूँ।

–इसप्रकार प्रत्येक को पृथक्–पृथक् नमस्कार करके प्रार्थना करता हूँ कि आप जैसी निर्मलबुद्धि मुझे भी प्राप्त हो , जिससे प्रारम्भ किया हुआ यह ग्रन्थ निर्विघ्न पूर्णता को प्राप्त हो।

उत्तम वैश्य कुल में उत्पन्न धन,–धान्य आदि महान लक्ष्मी से विभूषित, महान चतुर बुद्धि के धारक, महारूपवान, महान शूरवीर, महान धीर एवं गुणगंभीर, महान उपसर्गों के विजेता महामुनिराज श्री सुकुमाल स्वामी आप जैसी शक्ति की प्राप्ति हेतु मैं स्तुति करता हूँ।

हे गुरुवर्य ! जिनके आपने इतने विशेषण कहे, वे श्री सुकुमालस्वामी कौन थे ? कैसे थे ?

हे भव्य ! स्व–पर भव्यों को शान्तिदायक, इष्ट का प्रदाता ऐसा कल्याणकारक उन सुकुमाल स्वामी का चरित्र मैं कहता हूँ, तू सावधान होकर अपने हितार्थ इस पवित्र चरित्र को सुन। वैश्यकुल रूपी आकाश में सूर्य समान प्रकाश करने वाले, पुष्प के समान कोमल शरीर वाले और सुकुमाल नाम होने पर भी घोरातिघोर उपसर्गों में वज्रसमान अभेद्य और कठोर रहनेवाले, इन्द्र–सम दिव्य भोगों को भोगने वाले होने पर भी उन्हें त्याग कर सुख सागर में मग्नता रूप मुनिदशा में, क्षुधा–तृषा आदि परिषहों के विजेता परम तपस्वी, ज्ञान–वैराग्य से परिपूर्ण, अतीन्द्रिय आनन्द के रसिया, अशरीरीदशा के

साधक, सिद्धों के साथ बातें करने वाले, शान्त–प्रशान्त रस में मशगूल, जिनके रोम–रोम से वीतरागता टपक रही थी, जो अस्ति की मस्ति में केली करते थे, ऐसे थे श्री सुकुमाल स्वामी।

वे सिद्धप्रभु के ज्येष्ठ पुत्र थे, वे सिद्धगुण संपत्ति के शीघ्र अधिकारी होने वाले थे। लायक में लायक ज्ञायक के उपासक थे । मंगल में मंगल ज्ञायक के साधक थे।

{कुछ ही समय के बाद आप इसी भव में मोक्षलक्ष्मी के कंठहार ऐसे गुरु नाम गुरु श्री सुधर्माचार्यजी का, सिद्धान्तवेत्ता श्री सूर्यमित्र स्वामी गुरुवर का, अग्निभूति आदि मोक्षपथिकों का सुन्दर एवं आदर्श जीवन चरित्र भी आप को इस चरित्र में पढ़ने को मिलेगा। यह चरित्र महापुरुषों के सद्चरित्रों का भंडार है। प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था, उपशम, वैराग्य, भक्ति, निंदा और गर्हा का तल प्रवाह भी आपको इसमें देखने को मिलेगा। मिथ्यात्व, राग–द्वेष आदि का नाशक एवं सरलता, विचक्षणता और श्रुताभ्यास की भावनाओं का अजोड़ संगम भी इसमें प्राप्त होगा। इसलिये अपने हित के इच्छुक भव्यों का यह कर्तव्य है कि इस चरित्र का श्रवण, पठन एवं मनन अवश्य करें।}

धर्म देशना का अनुपम अवसर

अब गुरुवर्य हम को श्री वासूपूज्य तीर्थंकर के पंचकल्याणकमयी साधना भूमि चम्पापुर नाम की नगरी में ले चल रहे हैं। अपने कथानायक श्री सुकुमालजी का जीव दो भव पहले नागश्री नाम की कन्या के रूप में वहाँ था। वहाँ से प्रारम्भ करते हैं। आईये ! हम सभी गुरुवर्य के मुखारबिन्द सें वहाँ का वर्णन भी सुनें।

हे गुणनिधि ! वह चम्पापुर नगरी कहाँ है ? वह इतनी महान क्यों कहलाती है ? क्या वह साधकों की साधना भूमि है ? वहाँ के नगरवासी कैसे हैं ? वहाँ के वन–उपवन एवं महल अटारियों की रचना किस प्रकार की है ? वहाँ का राजा कौन है ?

हे भव्य ! मैं उस चम्पापुर नगरी का वर्णन करता हूँ, इसे ध्यानपूर्वक सुनना, सुकुमाल के जीव को दो भव पूर्व यहाँ से ही धर्मदेशना प्राप्त हुई थी। 'काँच के इच्छुक को भाग्योदय से अनमोल रत्न मिल गया' यह कहावत यहाँ से ही चरितार्थ हुई है।

देवों तथा उत्तमोत्तम मनुष्यों से परिपूर्ण, एक लाख योजन विस्तार वाले, लवण समुद्र से घिरे हुए असंख्यात द्वीप और समुद्रों के मध्य जम्बूवृक्ष के चिंह्नवाला, नदी, पर्वत, देश, नगर, ग्राम आदि से शोभायमान, राजाओं के समूह में चक्रवर्ती समान यह जम्बूद्वीप है।

इसमें एक लाख योजन ऊँचा, सर्व मेरुओं में सुन्दर, अनेक जिनमन्दिरों से शोभित सुदर्शनमेरु है । यह देव, अप्सरायें, विद्याधर और ध्यानस्थ चारणऋद्धिधारी मुनियों से शोभायमान है। जैसे देवों में इन्द्र होता है, वैसा ही सब मेरुओं में यह मेरु शोभता है।

इस सुदर्शनमेरु के दक्षिण भाग में पाँचसौ छब्बीस योजन और छह अंश विस्तार में देवों, विद्याधरों, भूमिगोचरी राजाओं से युक्त, धर्म एवं चारित्र की खान, धर्मात्मा एवं धर्मस्थान से पूर्ण भरतक्षेत्र के मध्य भाग में आर्यखण्ड है, जो अरहंत भगवान एवं चक्रवर्ती आदि से सुशोभित, स्वर्ग–मोक्ष के साधकों को निमित्त कारणस्वरूप एक असाधारण धर्म की खान समान है।

हे गुरुवर्य ! और क्या–क्या है इस चम्पानगरी में ? इसका वर्णन तो बड़ा अथाह–सा लगता है।

हे भव्य ! धर्मप्रवृत्ति ही वहाँ के आर्य लोगों का आभूषण है। जिसके चारों ओर नगर, पट्टन, खेट, पर्वत, ग्राम और वन–उपवन शोभ रहे हैं। दानी, धर्मात्मा आदि चतुर विद्वानों से, श्रावक और मुनिराज आदि सज्जनों से परिपूर्ण अंग नाम का देश शोभायमान हो रहा है। उसमें ऊँचे–उँचे कोट, कंगूरे, खाई वगैरह से युक्त अयोध्या समान, दानवीरों और भक्तजनों द्वारा जहाँ बड़े–बड़े महान महोत्सव हो सकें–ऐसे जिनमंदिरों से सुसज्जित चम्पा नाम की नगरी है।

उस चम्पानगरी की जनता के पुण्य–प्रताप से वहाँ विवेकी, धर्मात्मा, चतुर और चारित्रवान चन्द्रवाहन नाम का राजा था । उसकी सुलक्षणों से युक्त, लक्ष्मी समान श्रेष्ठ प्राणप्रिय लक्ष्मीमति नाम की रानी थी। इस राजा का एक नागशर्मा नाम का पुरोहित था, जो कुशास्त्रों का जानकार, क्रूरहृदयी, जैनधर्म का द्रोही, महा–मिथ्यादृष्टि था। उसकी रूपवान त्रिवेदी नाम की स्त्री और लक्ष्मी समान सुन्दर नागश्री नाम की पुत्री थी, जो रूप और विवेक में अग्रणी थी तथा ज्ञान और विज्ञान आदि गुणों से युक्त देवकन्या के समान सुशोभित थी।

"हे स्वामी ! मनुष्यों की सन्तान भी नागश्री कहलाती है क्या ?"

"हे वत्स ! थोड़ा धैर्य रखो, इसका नागश्री नाम क्यों पड़ा यह रहस्य भी आपको ज्ञात हो जायेगा। वह नागश्री कन्या अपनी सहेलियों (ब्राह्मण कन्याओं) के साथ क्रीड़ा करती हुई नगर के बाहर बगीचे में बने हुए नाग–मन्दिर में मूढ़बुद्धि से पुण्य लाभ की भावना से नाग पूजने चली गई। लेकिन अपूर्व पुण्योदय से उसने उस बगीचे में अनेक प्रकार की ऋद्धियों के धारक, विद्वान, महानज्ञान रत्नाकर के पारगामी, संसारी जीवों के कल्याण में तत्पर, रत्नत्रय के धारी, तपोधन, ध्यान–अध्ययन में लवलीन, निर्जन्तु स्थान में विराजमान–ऐसे श्री सूर्यमित्र और श्री अग्निभूति नाम के दो मुनिराजों को देखा। नागश्री नाग पूजने के बाद, सरलभाव से मुनिराजों को प्रणाम करके समीप में ही बैठ गई।"

हे महाराज ! नागश्री तो ब्राह्मण थी, वह जैन मुनियों को क्या जाने? वह तो छोटी बालिका थी, वह यह कुछ नहीं जानती थी कि ये जैन साधु हैं, इन्हें अपनी जाति वाले नहीं पूजते। वह तो भोलेपन से ही, 'ये साधु हैं'–ऐसा जानकर प्रणाम करके बैठ गई। वह कोई धर्मबुद्धि से या कुछ लाभ हेतु नहीं बैठी थी। वह कुछ धर्म–अधर्म समझती भी नहीं थी। परन्तु महाज्ञानी मुनिराज श्री सूर्यमित्र ने अपने निर्मल अवधिज्ञान से नागश्री के पूर्वभव एवं भविष्य में होने वाली सद्गति को जान लिया।

मुनिराज नागश्री को सम्बोधते हुए बोले– "हे पुत्री ! स्वर्ग के कारणभूत

अणुव्रत रूपी धर्म को तू धारण कर, जिससे तुझे इस भव में तो सुख मिलेगा ही और भविष्य में भी महान अभ्युदय प्राप्त होगा, क्योंकि तीनलोक में सर्वसुखों की प्राप्ति और सर्वमनोरथों की सिद्धि एकमात्र धर्म से ही होती है।

जो मनुष्य धर्म से विमुख रहता है, वह मनुष्य होकर भी पशु के समान है, जैसे पशुओं को अपने हित–अहित का विवेक नहीं, वैसे ही विवेकहीन मनुष्य भी हित–अहित को नहीं जानता। खान–पान, विषय–कषाय तो पशु और मनुष्यों में समान ही होते हैं। मात्र धर्माचरण ही मनुष्य की विशेषता है। इसलिये तू भी मद्य, माँस, मधु, इन तीन मकारों को तथा बड़ का फल, पीपल का फल, कठूमर, ऊमर और पाकर इन पाँच उदुम्बर फलों का त्याग कर और जुआ खेलना, चोरी करना आदि जो बुरी आदतें हैं, वे व्यसन हैं, उन्हें छोड़कर अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रह परिमाणव्रत –इन पाँच अणुव्रतों को धारण करना गृहस्थ धर्म कहलाता है। और व्रतधारी धर्मात्मा मृत्यु के बाद स्वर्ग ही जाते हैं। हिंसा वगैरह पापों में लगे रहने वाले जीव मरकर नरक और पशुगति में जाते हैं। इसलिये अपना हित चाहने वालों को अव्रती नहीं रहना चाहिये। कहा भी है–

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिः नराणां।
धर्मोहि तेषामधिको विशेषः धर्मेण हीनः पशुभिः समानः।।

श्री सूर्यमित्र मुनिवर से धर्मोपदेश सुनकर नागश्री बोली–"हे स्वामिन्! वे कौन से व्रत हैं, उनका क्या स्वरूप है ? जिन्हें आप सुख प्राप्ति हेतु मुझे देना चाहते हैं।"

आठ वर्षीय बालिका नागश्री की पात्रता देखते हुए श्री सूर्यमित्र मुनिराज ने उसे पाँच अणुव्रतों का स्वरूप समझाते हुए कहा–कि समस्त दुखों के कारण पाँच पापों के आशिंक त्याग का नाम पंचाणुव्रत है जिनका पृथक्–पृथक् वर्णन में संक्षेप में करता हूँ , उसे ध्यान से सुनो।

(१) अहिंसाणुव्रत : जितने भी त्रस जीव हैं, उन्हें अपने समान जानकर उनकी मन–वचन–काय से रक्षा करना। यह जगत का हितकारी निज कल्याण का साधन, कीर्तिकारी एवं सभी व्रतों का मूल, सभी श्रेष्ठ क्रियाओं का आचरण कराने वाला और प्राणीमात्र को अभयदान देने वाला है, इसे तू ग्रहण कर। इस व्रत की रक्षा के लिये मद्य, माँस और मधु तथा पाँच उदुम्बर फलों को जहर के समान जानकर बुद्धिमान पुरुषों को छोड़ देना चाहिये।

जो मनुष्य शराब वगैरह के लंपटी हैं, वे व्यसनी भी हो जाते हैं, जुआ खेलना, चोरी करना, शिकार करना, वेश्यागमन, परस्त्रीगमन, माँसभक्षण, और मदिरापान—ये सात व्यसन पापों की खान हैं, इनके सेवन करने वालों की बुद्धि नाश को प्राप्त होती है और बुद्धिनाश होने से जीवों की रक्षा का विचार ही नहीं रहता। ये नरक के दरवाजे खोलने वाले हैं इसलिये इनका भी विचारवंत मनुष्यों को त्याग करना चाहिये, क्योंकि जो इनके व्यसनी होते हैं, उनकी बुद्धि पापग्रसित होने से उनमें दया, दान, सत्य वगैरह कहाँ से अंकुरित होंगे ? और दया, दान, सत्य आदि के बिना व्रत और धर्मरूपी गुण कहाँ से होंगे ?

इसीप्रकार अहिंसा व्रत की रक्षा हेतु भले ही प्राण चले जावें, मगर धर्मात्मा जीवों को कभी भी रात्रि भोजन नहीं करना चाहिये। जो रात्रिभोजन करते हैं वे नियम से त्रस जीवों का भक्षण करते हैं, उससे माँस भक्षण का पाप अवश्य लगता है, क्योंकि त्रस जीवों की हिंसा के बिना माँस बनता ही नहीं।"

"हे प्रभु ! आपने त्रस जीवों की रक्षा करने का उपाय तो बतलाया, परन्तु जो स्थावर (एकेन्द्रिय) जीव हैं, उनकी हिंसा तो गृहस्थ जीवन में होती ही है, उनकी रक्षा का भी कोई उपाय है क्या ?"

"हे दयालु हृदयी ! उनकी रक्षा का उपाय भी है। अपना यह जैन धर्म प्राणी मात्र का रक्षक है, इसलिये स्थावर जीवों की रक्षा का उपाय भी है। जो पंचेन्द्रिय मनुष्य हैं उन्हें उन स्थावर जीवों का स्वरूप एवं उनके उत्पत्ति स्थानों का बोध कराकर उनकी रक्षा करने का उपदेश देते हैं। उनकी हिंसा गृहस्थ के भोजन आदि प्रत्येक कार्यों में होती ही है। अतः प्रत्येक काम सावधानी पूर्वक जीवों को देखभाल कर करना चाहिये और शृंगबेल आदि में, फूलों में, जमीन के अन्दर होने वाले आलू, मूली, गाजर, अदरक आदि कंदमूलों में, अनन्त जीव राशि होती है, इसलिये दयालु प्राणियों को इन पदार्थों का सेवन दवा के रूप में भी नहीं करना चाहिये अर्थात् इनसे बनी दवाओं का सेवन भी नहीं करना चाहिये। तथा अचार, मुरब्बा, मक्खन, बेर आदि में अनेक त्रस जीव होते हैं, उन्हें भी दया धर्म की प्राप्ति के लिये नहीं खाना चाहिये। इसीप्रकार अन्य भक्ष्याभक्ष्य का विचार करना चाहिये।

बिना छने पानी का उपयोग भी नहीं करना चाहिये। बिना छने पानी

में अनेक स्थूल और सूक्ष्म जीव रहते हैं। बिना छने पानी का उपयोग करने में त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा तो होती ही है, परिणाम भी कठोर होते हैं और पानी के माध्यम से वे जीव अपने पेट में चले जाते हैं, जिससे अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं और रोगग्रस्त व्यक्ति धर्म–कर्म सबसे वंचित रह जाता है, इसलिये अहिंसा व्रत को पालने बालों को इस का भी विशेष ध्यान रखना चाहिये।

(२) **सत्याणुव्रत** : सदा सत्य, हितकारी, मधुर, प्रामाणिक और धर्म वर्धक वचन बोलना चाहिये। भले ही कोई मनुष्य उसकी हँसी या निंदा करें। 'बड़े सत्यवादी हरिश्चन्द्र हो गये' या 'बहुत देखे तुम जैसे सत्यवादी' इत्यादि रूप से निंदा करें; तो भी स्थूल असत्य कभी नहीं बोलना चाहिये।

असत्यवादी अपने वचन को सत्य बनाने के लिये अनेक असत्यों की श्रृंखला तैयार करने में ही लगा रहता है और इस प्रकार पाप का बन्ध करता है, विश्वासघाती अनेक दुःख–संकटों का निकट में भाजन बनता है और दूसरे व्यक्तियों को भी विपत्तियों में ड़ाल देता है, तथा स्वयं का अपयश होता है, सो अलग। सत्यवादी सदा सुखी, यश का भंडार होता है, धर्म को धारण करने वाला होता है। लौकिक लक्ष्मी उसके चरणों में लोटती है। वह विश्व का विश्वासपात्र होता है। इसलिये सदा सत्यभाषी होना चाहिये।

(३) **अचौर्याणुव्रत** : चोरी कभी नहीं करना चाहिये। किसी के द्वारा बिना दी गई, गिरी हुई, खोई हुई, अथवा कोई कुछ वस्तु भूल गया हो तो उस वस्तु को या धनादि को सर्प के समान भयंकर अनिष्टकारी जान कर नहीं लेना चाहिये। जैसे रास्ते में पड़े हुए रुपये–पैसों को लोग उठाकर मंदिर के गोलक में ड़ाल देते हैं तो वह भी चोरी है, क्योंकि वह किसी की गिरी हुई वस्तु है।

किसी के धन या स्त्री का अपहरण करना, बलात् उससे छीन लेना भी चोरी है। ऐसे कार्यों से मारण,ताड़न, वध–बंधन आदि के दुःख इस लोक में भी मिलते हैं और परलोक में भी दुर्गति आदि प्राप्त होती हैं, इसलिये चोरी करना तो दूर रहो परंतु चोरी के भाव भी नहीं करना चाहिये और चुराई गई वस्तु को खरीदना भी नहीं चाहिये। अतः स्थूल चोरी का त्याग करना चाहिए।

(४) **ब्रह्मचर्याणुव्रत** : अपनी स्त्री (अथवा पति) के अलावा अन्य

महिलाओं को माता, बहन और पुत्रीवत् मानना चाहिये। इसीप्रकार महिलाओं को भी अन्य पुरुषों को पिता, भाई एवं पुत्रवत् मानना चाहिये। अब्रह्म का सेवन लोक–निन्दनीय तो है ही, अनेक अनिष्टों का घर और अपयश का गर्त है। उसका वर्तमान जीवन भी संदेह युक्त हो जाता है और भावी दुर्गति का कारण तो है ही। ब्रह्मचर्यव्रत लोक–प्रख्यात,समस्त इष्ट पदों का वरदान, धर्माचरणमय होने से जग में शोभता है और भावी सुगति का कारण होने से सभी को इसका पालन करना चाहिये।

(५) परिग्रह-परिमाण व्रत : क्षेत्र–वस्तु आदि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह हैं, उनका परिमाण करना चाहिये। परिग्रह–परिमाण से लोभ रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त होती है और बिना विवेक के पाप कार्यों से धन–उपार्जन के परिणामों से भी बचते हैं। अति धन–संग्रह के अभाव में उसकी रक्षा संबंधी राग–द्वेषादि भावों से भी बचते हैं।

इसलिये हे पुत्री ! ये पंच अणुव्रत दोनों लोकों में कल्याणकारी हैं। दोनों लोकों में सुखकारक इन पंचाणुव्रतों को तू प्रसन्नतापूर्वक अंगीकार कर। सुख एवं गुणों के निधान इन पंचाणुव्रतों को जो उत्तम प्रकार से पालता है, वह अच्युत स्वर्ग पर्यन्त सुखों का भागी होता है। वहाँ से च्युत हो मनुष्यगति में आकर रत्नत्रय धर्म को आराधकर मोक्ष को प्राप्त होता है। इसलिये श्री जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहे गये इन व्रतों के स्वरूप को अच्छी तरह जानकर, मोक्ष सुखदायक समझकर इन्हें सम्यग्दर्शन पूर्वक पालना चाहिये। यह तीन लोक के सुख रूपी वट वृक्ष का मूल है। निज सुख के वांछक जीवों का कर्त्तव्य है कि चंचल और प्रतिक्षण काल के गाल में जाने वाली आयु का एक क्षण भी इन व्रतों के बिना न जाने दें।

मुक्ति का प्रथम सोपान

मुक्तिदूत, जगतबंधु, चलते–फिरते सिद्ध श्री मुनिवर की धर्मामृत वर्षा के सिंचन से जिसका हृदय आकंठ पूरित हो उठा है–ऐसी नागश्री पूज्यवर आचार्य के चरण–कमलों को वंदन करके, सविनय अंजुली जोड़कर अति श्रद्धा पूर्वक श्रीगुरु से प्रार्थना करती है "हे गुरुवर ! मेरे व्रतों को सम्यग्दर्शन से उत्तम करो।"

इसप्रकार उसने पंच अणुव्रतों को धारण किया।

भावी घटनाओं के ज्ञाता मुनिराज ने अपने अवधिज्ञान से यह जान

लिया कि इसकापिता इससे इन व्रतों को छुड़ाने का अत्यन्त आग्रह करेगा। इसलिये व्रत–ग्रहण कर जब नागश्री जाने लगी तो मुनिराज ने उसे एक हितकारी शिक्षा दी –"बेटी ! तेरे पिता जैनधर्म से अनभिज्ञ होने के कारण तुझे इन व्रतों को छोड़ देने का आग्रह करेंगे, परन्तु देवों को भी दुर्लभ ऐसे व्रतों को तू कभी नहीं छोड़ना, क्योंकि व्रतों के आचरण से स्वर्ग एवं मोक्ष की सम्पदा मिलती है, ख्याति, पूजा, लाभादि स्वेच्छा के अनुकूल मिलते हैं और व्रत लेकर उनको जो भंग करता है, वह मूर्ख नादान सैकड़ों दुःखों को भोगता है और दुर्गति में भ्रमता है। इसलिये तेरे पिता के आग्रह से तू इन व्रतों का पालन करने में असमर्थ हो तो मेरे दिये व्रत मुझे वापस कर जाना, लेकिन वापस करने से पहले उन्हें भंग नहीं करना।"

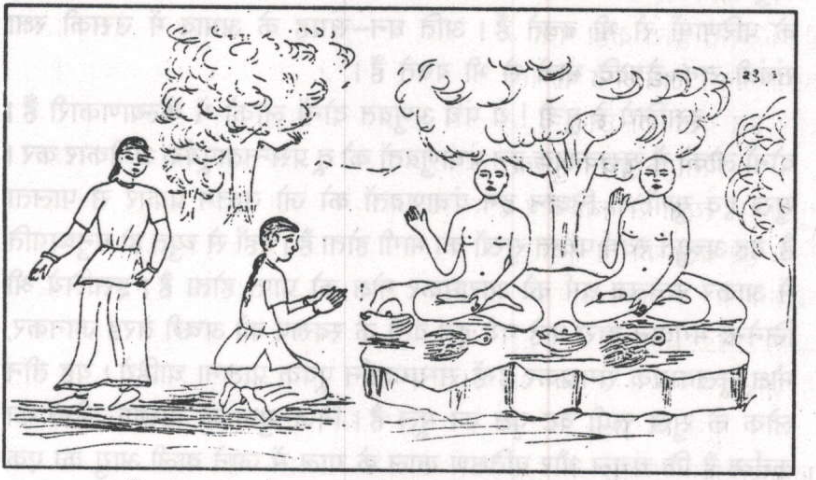

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि जब मुनिराज को यह ज्ञात ही था कि नागश्री का पिता जैनधर्म का द्रोही है, वह नागश्री को व्रत छोड़ने के लिए विवश करेगा, तो फिर उसके पिता की आज्ञा बिना उसे व्रत दिये ही क्यों ?

समाधान : श्री मुनिराज ने उस बालिका का निकट भव्यपना एवं पिता को समझाकर धर्ममार्ग में लगाने वाली कुशल बुद्धि और उसका दृढव्रतीपना भी तो अपने अवधिज्ञान से जाना था। 'भवि भागन बच जोगे बसाय''–ऐसा बनाव बनना ही था अर्थात् उसकी पात्रता का उदित होना और श्रीगुरु को उसे धर्ममार्ग में लगाने का भाव आने का बनाव तो बनना ही था,

जो कि उत्तम ही हुआ। मुनिराज की शिक्षा ग्रहण कर नागश्री बोली –"हे जगतकल्याणक तात ! आपकी आज्ञानुसार ही सब कुछ होगा।"

इतना कहकर मुनिराज को नमस्कार करके वह अपने घर की ओर चल पड़ी। उसके घर पहुँचने से पहले ही उसके साथ आईं हुईं सखियों ने नागश्री के पिता को यह सन्देश दे दिया था कि नागश्री ने जैनसाधु को नमस्कार करके कुछ व्रत लिये हैं। बस, फिर क्या था ? नागश्री का पिता तो ज्वालाप्रसाद बन गया, नागश्री के घर पहुँचते ही उसने कठोर वचन कहना प्रारंभ कर दिये।

तूने यह बहुत ही खोटा काम किया है, जो नग्न मुनि को नमस्कार किया और उससे व्रत लिये । तुझे यदि धर्म ही करना था तो अपने कुल में चले आये यज्ञकर्म आदि धर्म ही करना चाहिये, जो अपने कुल को उचित हैं। जिनेन्द्र द्वारा कहा गया जीवदयामयी धर्म उनके लिये स्वर्ग–मोक्ष दाता होगा, अपने लिये श्रेष्ठ भी नहीं और योग्य भी नहीं। इसलिये मेरा कहना मान और इन व्रतों को छोड़ दे, अन्यथा मेरे घर से बाहर निकल जा।

पिता के वचन सुनकर नागश्री मृदुवचनों द्वारा व्रतों के ग्रहण से क्या गुण और त्याग से क्या दोष प्राप्त होते हैं यह बतलाती हुई बोली पिताजी! लिये हुए व्रतों को तो दुर्बुद्धि ही छोड़ते हैं, क्योंकि ग्रहण किये हुये व्रतों के छोड़ने से जगत में अपयश और निंदा प्राप्त होती है, वह व्यक्ति सबसे अधम समझा जाता है और उसे परलोक में सदा दुर्गति में भ्रमण करना पड़ता है। इसलिये परम–कल्याणकारी एवं सारभूत व्रतों को मैं तो नहीं छोड़ूंगी

पुत्री के वचन सुन पिता नागशर्मा ने नाग के समान कुपित होकर फुंकारते हुए नागश्री को घर से बाहर निकल जाने को कहा।

नागश्री ने क्रोध से कुपित अपने पिता पर शीतल जल के समान शीतलता प्रदान करने वाले वचन कहे। पिताजी ! उन मुनिराज ने अन्तिम एक शिक्षा और भी दी थी कि यदि मेरे दिये हुए व्रतों को तेरे पिता छुड़ाने का दुराग्रह करें तो, मेरे व्रत मुझे वापस कर जाना, परन्तु वापस करने से पहले उन्हें भंग नहीं करना। इसलिये यदि आप मेरे इन व्रतों को छुड़ाना ही चाहते हो तो मुनिराज के समीप चलिये, मैं आपके सामने ही उनके दिये इन व्रतों को उन्हें वापस कर दूंगी।"

पुत्री के वचन पिता की भावना के अनुकूल होने से पिता ने कहा––"ठीक है, यह मुझे मंजूर है।" इस प्रकार कहता हुआ और मुनिराज

की निंदा करता हुआ वह पुत्री नागश्री को साथ लेकर उसके व्रत वापस कराने के लिये घर से बाहर निकला। दोनों रास्ते में चल ही रहे थे कि उन्होनें देखा राज्य के सिपाही एक जबान पुरुष को बांध कर ले जा रहे हैं। उस पुरुष के दोनों हाथों में हथकड़ियाँ थीं। उसे देखकर नागश्री ने पिता से पूछा–

पिताजी ! इस व्यक्ति ने ऐसा कौन–सा अपराध किया है जिससे इसे इसप्रकार बांध कर ले जाया जा रहा है ?

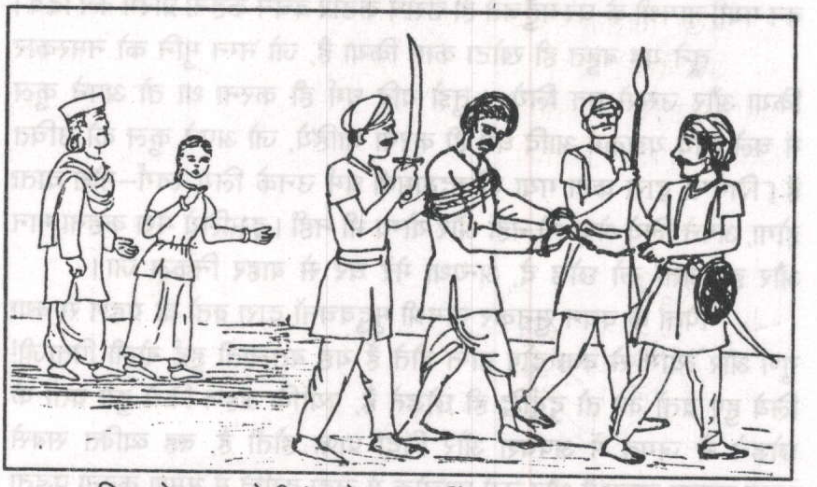

पिता ने कहा बेटी ! मुझे पता नहीं क्या कारण है ! पुत्री के सामने ही पिता ने कोतवाल से पूछा– कोतवालजी ! किस अपराध के कारण इसे बांधा गया है ?

कोतवाल बोला–" इस चम्पानगरी में अठारह करोड़ द्रव्य का मालिक देवदत्त नाम का साहुकार था, उसका पुत्र वसुदत्त बहुत ही जुआ खेलता था। वसुदत्त जुआ के व्यसन में अक्षधूर्त नाम के जुआरी के साथ जुआ खेलते हुए एक लाख दीनार हार गया। अक्षधूर्त ने उससे जीता हुआ धन मांगा और जल्दी चुकाने को कहा, तो इस मूर्ख, पापी, निर्दयी वसुदत्त ने उसे छुरा मार दिया, जिससे वह मर गया। इसलिये जुआ आदि दोषों के कारण दुर्बुद्धि वसुदत्त को राजा ने फांसी पर चढ़ाने और उसकी सारी सम्पत्ति छीन लेने का दंड दिया है। इसलिये इसे फांसी पर चढ़ाने ले जाया जा रहा है।"

यह सुनते ही नागश्री ने पिता से कहा "जिस हिंसा आदि कुकर्मों से यहीं मृत्यु तक का दंड मिलता है, उस हिंसा के त्याग रूप संसार में सर्वोच्च

पद वाला अहिंसा अणुव्रत ही तो मैंने मुनिराज से लिया है, उसमें क्या दोष है ? उसे मैं क्यों छोड़ूं ? ऐसा सारभूत एवं उत्तम मेरा यह व्रत तीन लोक में किसे सुखदायी नहीं होगा ?

तब नागश्री के वचन सुनकर उसके पिता ने उसे इस अहिंसाणुव्रत को रखने की स्वीकृति दे दी और शेष व्रतों को वापस कर देने को कहा।

इसके बाद जब वे आगे बढे तो उन्होंने एक मनुष्य को उल्टा लटकाया हुआ देखा, जिसके मुँह में कांटे लगाये हुये थे और जिसे, पीटा भी जा रहा था। उसे देखते ही नागश्री को नारकियों का ध्यान आ गया, नारकियों के समान उस मनुष्य की दुर्दशा देखकर वह मन में दुखी हुई और उसने अपने पिता से पूछा– "पिताजी ! इस मनुष्य को इतना दुख क्यों दिया जा रहा है ?"

पिता ने जबाव दिया– "बेटी ! पड़ौसी देश के राजा वज्रवीर्य ने अपनी सेना सहित इस देश की सीमा पर खड़े होकर यहाँ के राजा चन्द्रवाहन पर चढ़ाई करने के इरादे से अपना एक चतुर दूत राजा चन्द्रवाहन को यह संदेश देने के लिये भेजा कि राजा वज्रवीर्य की आज्ञा है कि आप उनकी सेवा में रहना स्वीकार करें, अथवा चम्पानगरी उन्हें समर्पित करदें, इसी में आपका भला है । यदि आप ऐसा नहीं करते तो युद्ध के लिये तैयार रहिये।

दूत का यह संदेश सुनकर चम्पापुर नरेश चन्द्रवाहन ने दूत को वहाँ से चले जाने को कहा और कहा कि यदि तुम्हारे स्वामी में ताकत है तो युद्ध

के लिये सामने आवें, हम आज ही आपके राजा की पूरी शक्ति देखने के लिये तैयार हैं। इस प्रकार दूत को बिदा कर राजा चन्द्रवाहन ने बड़ी सेना सहित बल नाम के सेनापति को राजा वज्रवीर्य से युद्ध करने के लिये भेजा। अपने राजा की आज्ञा से सेनापति बल ने बड़ी भारी सेना सहित जाकर मनुष्यों को प्रचंड भय उत्पादक महायुद्ध शुरू किया। जब दोनों के बीच महायुद्ध हुआ तो एक अन्य राजा तक्षक का अंगरक्षक मृत्यु के भय से भागकर राजा चन्द्रवाहन के पास पहुँचा और उन्हें यह झूठा समाचार दिया कि हे राजन्! वज्रवीर्य राजा ने आपके सभी हाथी, घोड़े वगैरह जीत लिये हैं और आपका सेनापति बल भी पकड़ा गया है। उसके ऐसे वचन सुनकर राजा चन्द्रवाहन बहुत दुःखी व उदास हो गया परन्तु वास्तव में बात बिल्कुल उल्टी थी। वास्वत में सेनापति बल अपने शत्रु राजा वज्रवीर्य को कैद कर उसे अपने साथ ले चम्पापुर की ओर चल पड़ा था। उसके चम्पापुरी में प्रवेश के समय ठाठ–बाट और सैन्य आदि देखकर राजा चन्द्रवाहन ने समझा कि वज्रवीर्य ही आ रहा है। अतः रक्षा हेतु बड़े–बड़े शूरवीर योद्धाओं के साथ किले व नगर के दरवाजे बन्द करा कर स्वयं युद्ध के लिये तैयार हो गया।

यह बात जब सेनापति बल को ज्ञात हुई तो अपने स्वामी को चिंतित जान उनकी चिन्ता निवारण के लिये स्वयं आगे आकर, सभी दरवाजे खोलकर, राजा चन्द्रवाहन के समीप जा कर उन्हें नमस्कार किया और बंदी राजा वज्रवीर्य को राजा चन्द्रवाहन के सामने पेश किया। यह देख राजाचन्द्रवाहन बहुत प्रसन्न हुए और सेनापति बल की बहुत–बहुत प्रशंसा करते हुए उन्हें विजय के फल स्वरूप बहुत–सा इनाम दिया, जिसे सेनापति बल ने सम्मानपूर्वक स्वीकार किया। तब राजा चन्द्रवाहन ने राजा वज्रवीर्य को मुक्त कर देने की आज्ञा दी एवं उसे न्याय–नीतियुक्त वचनों से तृप्त कर उसे उसके नगर भेज दिया।

यद्यपि वज्रवीर्य राजा अपने देश जाकर पूर्ववत ही सभी सुख–सामग्री पूर्वक सुख से जीवन बिताने लगा, परन्तु पराजय का खेद उसके मन में बना ही रहा। उधर चन्द्रवाहन राजा ने तक्षक के अंगरक्षक द्वारा कही गई झूठ बात के कारण कोतवाल को उसे दंडित करने की आज्ञा दी। पिताने नागश्री को बताया कि इस झूठ बोलने के अपराध के करण ही इसे दंड दिया जा रहा है और अभी तो इससे भी कठोर दंड़ दिया जाना शेष है।

उसे इतना कठोर दंड दिया जाता देख नागश्री पहले ही उसके किसी भयंकर अपराध की कल्पना कर रही थी और जब उसने अपने पिता के मुख से असत्य भाषण का यह फल सुना तो उसने सोचा सत्य बोलना कितना हितकर है एवं वह बोल उठी–

पिताजी ! श्रीगुरु ने मुझे भी तो झूंठ न बोलने का ही व्रत दिया है, इसमें तो अपना हित ही है, फिर आप इसे क्यों छुड़ा रहे हैं ! जिससे राजदण्ड, प्रजादण्ड और समाजदण्ड मिलता हो–ऐसा झूंठ तो किसी को भी नहीं बोलना चाहिए।

पुत्री की बात पर गंभीरता–पूर्वक विचार करता हुआ नागशर्मा बोला– "बेटी ! यह व्रत भी तू रख ले, पर इनके अलावा जो व्रत हैं, उन्हें तो वापस करना ही है ?"

इतना कह कर पिता–पुत्री पुनः आगे बढ़े और पुनः एक घटना देखी। एक मनुष्य को शूली पर चढ़ाने के लिये ले जाया जा रहा था। कोमलहृदयी नागश्री का मन यह देखकर करुणा से भर आया। उसके पिता ने भी यह भाप लिया कि नागश्री किसी का दुख नहीं देख सकती। यह फिर से इसका कारण पूछेगी। इतने में ही नागश्री ने पूछ ही लिया। "पिताजी ! इस व्यक्ति को शूली पर क्यों चढ़ाया जा रहा है ?"

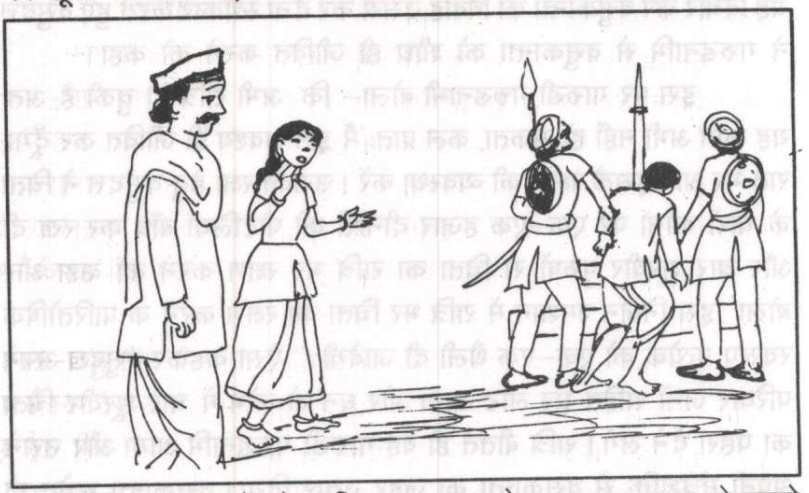

पिता ने मन में सोचा कि इस प्रकार तो एक–एक घटना के बहाने यह अपने सभी व्रत सुरक्षित कर लेगी, पर करूँ भी क्या, उत्तर तो देना ही

पड़ेगा। फिर भी उसने टालने के लिये कहा–"मुझे पता नहीं।"

पुत्री ने इसका कारण कोतवाल से जानने को कहा।

कोतवाल से पूँछने पर कोतवाल ने जबाव दिया– "इस नगर में वसुदत्त नाम का एक धनाढ्य सेठ रहता है, उसकी पत्नी का नाम वसुमति है और उनके वसुकान्ता नाम की एक रूपवान पुत्री थी। वसुकान्ता को एक दिन सर्प ने डस लिया जिसके जहर से वह मूर्छित हो गई। उसे मूर्छित जान कर परिवार जनों ने अनेक उपाय किये, पर उसकी मूर्छा नहीं टूटी, अतः उसे मृतक जान परिवारजनों ने श्मशान ले जाकर जलाने हेतु चिता पर रख दिया । उसी समय पुण्योदय से अनेक देशों में घमूता हुआ गरुडनाभि नाम का गारुडी वहाँ आ पहुँचा। चिता पर रखी रूपवान कन्या को देखकर उसने कहा–कि यदि इस कन्या का विवाह मेरे साथ कर देने का वचन दो तो मैं इस कन्या को जीवित कर सकता हूँ ।

वसुदत्त व उसके परिवारजनों ने विचारा कि– "यह भी वणिक है और हम भी वणिक हैं। अतः विवाह करने के अयोग्य तो नही है, वय आदि में भी वसुकान्ता के योग्य ही है। अतः यदि यह वसुकान्ता को जीवित कर देता है तो वसुकान्ता का विवाह इससे कर देना कोई बुरा तो नही हैं।" यह विचार कर वसुकान्ता का विवाह उससे कर देना स्वीकार करते हुए वसुदत्त ने गरुडनाभि से वसुकान्ता को शीघ्र ही जीवित करने को कहा।

इस पर गारुडी गरुडनाभी बोला– कि अभी रात्रि हो चुकी है; अतः यह काम अभी नहीं हो सकता, कल प्रातः मैं इसे अवश्य ही जीवित कर दूँगा; रात भर आप इसके रक्षण की व्यवस्था करें। उसकी रक्षा हेतु वसुदत्त ने चिता के चारों कोनों पर एक–एक हजार दीनारों की पोटलियाँ बाँध कर रख दीं और चार शूरवीर पुरुषों से चिता का रात्रि भर रक्षण करने को कहा और बोला "इस निर्जन श्मशान में रात्रि भर चिता का रक्षण करने के पारितोषिक स्वरूप प्रत्येक को एक–एक थैली दी जावेगी।" ऐसा कहकर वसुदत्त अपने परिवार जनों सहित घर लौट आया और धन के लोभ में चार शूरवीर चिता का पहरा देने लगे। रात्रि बीतते ही वह गारुडी गरुडनाभि आया और उसने अपनी मंत्रशक्ति से वसुकान्ता का जहर उतार दिया। वसुकान्ता सचेत हो गई और सेठ वसुदत्त अपनी पुत्री को जीवित जान कर अतिहर्षित हुआ और अपने वचन के अनुसार वसुकान्ता का विवाह गरुडनाभि के साथ कर दिया।

पर देखा यह गया कि जो चार पोटलियाँ चिता के चारों ओर रखी गईं थीं, उनमें से एक कम हो गई। वसुदत्त ने समझा कि एक पोटली तो एक ने ले ही ली है, अतः उसने शेष तीन पोटलियाँ पहरा दे रहे शूरवीरों में से जिनने नहीं ली है, उन्हें एक–एक पोटली ले लेने को कहा। पर चारों शूरवीरों में से किसी ने भी पहले से पोटली ली है–ऐसा स्वीकार ही नहीं किया। अतः वसुदत्त सेठ ने नगर के राजा से एक हजार दीनारें चुराई जाने की शिकायत की और चोर की खोज कराई जाने के लिये प्रार्थना की।

राजा ने उसी समय चंडकीर्ति नामक कोतवाल को चोर का पता लगाने का आदेश दिया और कहा कि "यदि तुम चोर का पता लगाने में असफल रहे तो तुम्हारा मस्तक कटवा दिया जावेगा।"

चंडकीर्ति कोतवाल ने चोर को माल सहित पकड़ लाने के लिये पाँच दिन का समय (मोहलत) माँगा और कहा यदि मैं पाँच दिन में चोर को पकड़ने में असफल रहूँ तो महाराज जो उचित समझें मुझे दंड दें।

राजा ने कोतवाल को पाँच दिन का समय दे दिया। चंडकीर्ति कोतवाल चोर को खोज निकालने के लिये बहुत चिन्तित था अतः वह चारों चौकीदारों को साथ लेकर घर पहुँचा। कोतवाल की सुमति नाम की सुन्दर एवं बुद्धिमान कन्या ने पिता को चिन्तित देख उसकी चिन्ता का कारण पूछा, तो कोतवाल ने पुत्री को बताया–'इन चारों में से किसी एक ने एक हजार दीनारें चुराईं हैं, पर कोई भी चोरी कबूल नहीं करता और यदि मैं पाँच दिन में चोर का पता लगा कर उसे राजा के सामने प्रस्तुत करने में असफल रहा तो राजा मेरा शिरच्छेद करा देगा, यही मेरी चिन्ता का कारण है।'

शीघ्र ही लौकिक कार्य सिद्ध करने में चतुर उस कन्या ने चोर का पता लगाने के लिये मन में कुछ युक्ति सोचकर, पिता से कहा–'आप चिन्ता छोड़ दीजिए, मैं आज ही चोर का पता लगा लेती हूँ।'

चंडकीर्ति ने चारों व्यक्तियों को भोजन कराया व उनके रहने की व्यवस्था कर, उनसे कहा– आप लोगों को पाँच दिन यहीं रहना पड़ेगा।

चंडकीर्ति भेद जानने के लिये उनसे बातचीत करता रहा, परंतु कोई फल नहीं निकला। तब चंडकीर्ति की पुत्री सुमति ने उनमें से एक को अपने कमरे में बुलाकर बिठाया और अनेक प्रकार के कटाक्षों एवं अन्य साधनों से उसके मन में काम–विकार उत्पन्न कराने का प्रयत्न किया और

कहा–'मैं तुम पर आसक्त हूँ, पर मेरे मन में एक बड़ा विकल्प है–तुम चारों शूरवीरों के वहाँ पहरा देते रहने पर भी चोर एक हजार दीनारें कैसे चुरा ले गया ? उस समय आप लोग क्या कर रहे थे ? यह जानने की मुझे बहुत जिज्ञासा है।

इस पर उस चौकीदार ने जबाव दिया–"सुमते ! मैं तो रात्रि के प्रथम पहर में ही वेश्या के यहाँ चला गया था और अंतिम पहर मैं लौटकर आया था, अतः मैं कुछ नहीं बता सकता।" इसके बाद दूसरे को बुलाकर उसके मन में भी पूर्ववत् काम–विकार उत्पन्न कराने के निमित्त प्रस्तुत कर अपनी आसक्ति बताई और फिर वही प्रश्न पूछा।

दूसरे ने भी कहा– "मैं तो पहले व्यक्ति के जाने के तत्काल बाद ही बकरा चुराने जंगल की ओर चला गया था और एक बकरा चुराकर लाया, बाद में क्या हुआ मुझे पता नहीं।"

सुमति ने तीसरे व्यक्ति को बुलाकर उसी प्रकार उससे भी हाव–भाव भरी चेष्टा के साथ प्रश्न पूछा। उसने भी कहा–'मैं तो माँस खाने के लिये बकरा राँध रहा था, मुझे भी कुछ पता नहीं। चौथे से भी उसी प्रकार प्रश्न करने पर उसने उत्तर दिया––"मैं तो सारी रात चिता पर रखी अत्यन्त रूपवती लाश को ही देखता रहा, मेरी नजर पोटलियों पर तो गई ही नहीं।"

चारों की बातें सुनकर सुमति के मन में यह तो निश्चय हो गया कि बकरा चुराने वाला चौकीदार ही चौर्यवृत्ति वाला है, परंतु स्पष्ट कैसे कहा जाय। उसने सोचा कुछ धैर्यता से काम लेना ही उचित होगा। ऐसा विचार कर उन चारों चौकीदारों से कहा आप में से किसी का कोई दोष नहीं लगता। सुमति उनकी बातें सुनकर यह तो समझ रही है कि ये कैसे चोकीदार हैं, जो अपने कार्य के प्रति थोड़े भी सावधान या प्रमाणिक नहीं हैं। वास्तव में इन तीनों को दीनारों की पोटलियाँ देना ही नहीं चाहिये, क्यों इन तीनों ने तो चौकीदारी की ही नहीं, लेकिन यह मुद्दा सुमति का नहीं था, इसलिए उसने उन तीनों की बातों पर मन में उपेक्षा कर दी और उन सभी से कहने लगी अभी समय अधिक हो गया है, नींद भी आने लगी है, अतः नींद भगाने के लिये आप सभी क्रम से एक–एक कहानी सुनाईए।

इस पर चारों ने ही उत्तर दिया कि हम लोगों को कोई कहानी नहीं आती, अतः आप ही कहानी सुनाईए।

सुमति ने कहानी सुनाना स्वीकार किया और ध्यान से कहानी सुनने के लिये कहा–सुमति ने कहानी प्रारंभ की–

पटना शहर में धनदत्त नाम का एक वणिक रहता था, उसकी सुदामा नाम की एक पुत्री थी, एक दिन वह अपने महल के पीछे के तलाब में पैर धोने के लिये गई। वह तालाब में पैर ड़ालकर धो ही रही थी कि तालाब में रहने वाले एक मगरमच्छ ने उसका पैर पकड़ लिया। उसने अपना पैर छुड़ाने के लिये बहुत प्रयत्न किया, मगर वह छुड़ा न सकी, तो दुःख़ित हो जोर–जोर से चिल्लाने लगी– मुझे छुड़ाओ, मुझे छुड़ाओ मेरा पैर मगर ने पकड़ लिया है। उसकी पुकार सुनकर समीप में रहने वाले कुछ व्यक्ति दौड़कर आये और सुदामा का हाथ पकड़कर जोर से खींचकर मगरमच्छ सें उसे छुड़ा लिया और वह आपत्ति से छूट गई।

कुछ माह बाद सुदामा का विवाह हो गया। उसके मामा भी उसी पटना शहर में रहते थे। एक दिन उसे मामा के यहाँ जाने का विचार आया, उसने यह विचार अपने पतिदेव से कहा। उसकी बात सुनकर उसके पति ने कहा, आज शाम को घूमते हुए अपन वहाँ चलेंगे।

जब वे दोनों शाम के समय घूमते हुए मामा के यहाँ जा रहे थे, तब रास्ते में उन्हें चोरों का समूह मिला, उनने उससे सब आभूषण उतार कर देने को कहा।

चोरों की बात सुनकर सुदामा ने अपनी, अपने पति की एवं अपने आभूषणों की रक्षा हेतु एक झूठ बात बनाई और उन्हें उत्तर दिया कि मुझे इसी हालत में एक स्थान पर जाना है, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है, इसलिए मैं आपको वचन देती हूँ कि मैं इसी रास्ते वापस आते समय ये सभी आभूषण उतार कर आपको दे दूँगी। अभी मुझे जाने दीजिए।

चोरों ने उसकी प्रतिज्ञा सुनकर उसे आगे जाने दिया। वह कुछ ही दूर आगे पहुँची कि उसे एक राक्षस मिला। राक्षस ने उनसे कहा कि तुम प्रभू का स्मरण कर लो, क्योंकि अब मैं तुम्हें मार कर खा जाऊँगा।

वे दोनों विचारने लगे–अभी एक संकट से जैसे–तैसे छूटे कि यह उससे भी खतरनाक संकट खड़ा हो गया, अब इस राक्षस से निपटना आसान नहीं, इस विचार से सुदामा अपने पति की ओर देखने लगी। तब उसके पति ने भी सुदामा को इशारे से वही बात इसे भी कहने को कहा।

सुदामा ने राक्षस को भी वही बात कही , जो चोरों को कही थी। उसकी प्रतिज्ञा जानकर राक्षस ने भी उसे आगे जाने दिया। वे दोनों कुछ ही आगे बढ़े ही थे कि वहाँ एक नगर कोतवाल मिला और उसने उन्हें रोका।

सुदामा ने उस कोतवाल को भी अपनी प्रतिज्ञा की बात कही, कोतवाल समझा यह किसी देवी–देवता को पूजने जा रही है, इसलिए धर्म कार्य में विघ्न करना अच्छा नहीं। ऐसा सोच उसने भी उन्हें आगे जाने दिया।

वे दोनों कुछ आगे बढ़े ही थे कि उन्हें कुछ स्त्री लंपटी लोग मिले। उनने भी उसे अपने फंदे में फंसाना चाहा। वे लोग सोचने लगे हम लोग तो बहुत हैं, हमारे सामने इसका अकेला पति क्या कर सकता है। ज्यादा करेगा तो इसे भी बांधकर जंगल में ड़ाल देगें परंतु इतनी सुन्दर एवं जबान स्त्री फिर कहाँ मिल सकेगी। ऐसा विचार कर उनने उससे विषय की इच्छा व्यक्त की।

सुदामा ने जो बात पूर्व में तीन संकटों से बचने के लिये कही थी, वही बात इन लोगों को भी सुना दी। इन्होंने भी उन्हें छोड़ दिया। इस प्रकार अनेक संकटों से गुजरकर वे दोनों अपने इष्ट स्थान/मामा के घर पहुँचे।

कहानी सुनाने के बाद सुमति ने उन चारों चौकीदारों से एक प्रश्न पूछा कि बताओ इन चारों में सबसे बड़ा मूर्ख कौन था ?

तब बकरा चुराने वाला चौकीदार बोला–मुझे तो इन सब में सबसे बड़े मूर्ख तो चोर लगते हैं, क्योंकि उन्होंने अनायास प्राप्त हुए बहुमूल्य जेवर को छोड़ दिया, उनके स्थान पर यदि मैं होता तो कदापि उसे लूटे बिना नहीं रहता।

मांस पकानेवाला चौकीदार बोला– अरे ! वह राक्षस सा तो नहीं लगता, भैंसा जैसा होगा, जो दूसरों की बात के इशारे पर निर्भर रहता है। वह यदि किसी की प्रतिज्ञा को समझने लगे तो काहे का राक्षस ? वह कुछ नहीं समझता, उसे तो मांस खाने का काम है चाहे कोई भी हो। जब उसे नवजबान दम्पत्ति का मांस खाने का अवसर सहज मिल ही गया था तो छोड़ा क्यों ? कोई व्यक्ति यदि संकट से बचकर चला जावे वह पुनः आवेगा क्या? यदि उस के स्थान पर मैं होता तो उस जैसी मूर्खता कभी नहीं करता।

लाश पर ही दृष्टि रखने वाला चौकीदार को कोतवाल की बुद्धि पर बहुत तरस आई, वह बोला–कोतवाल तो राज्य नियमों को पालने में बज्र

जैसे कठोर होते हैं। उसके सामने बड़े बड़ों की भी नहीं चलती तब फिर वे दोनों किस खेत की मूली थे ? लगता है वह कोतवाल के रूप में कोई खुशामदीया खड़ा होगा, नहीं तो उनकी हिम्मत वहाँ से आगे बढ़ने की हो कैसे सकती थी ? कोतवाल का क्रोधयुक्त चहरा, कंधे पर भरी बन्दूक और हाथ में दण्ड़ा देखते ही जनता कांप जाती है। अतः उसकी इजाजत बिना आगे पैर नहीं उठा सकते, तब फिर आगे बढ़ने की बात तो बहुत दूर रही। यदि मैं उसके स्थान पर होता तो पूरी खाना तलासी लिये बिना कदम भी नहीं उठाने देता, लगता है वह मूर्खों का सरदार होगा।

स्त्री लम्पटी चौकीदार उन लम्पटियों की बात सुनकर बोला– अरे ! सबसे बड़े मूर्ख तो वे लोग हैं जो स्त्री की बातों में आकर इतनी सुन्दर जबान स्त्री को ही छोड़ बैठे। उन मूर्खों को इतनी भी अक्ल नहीं थी कि यह जाने के बाद फिर क्यों आयेगी ? हम अपना काम तो साध लें, उसका जो होना होगा सो हो जायेगा, उसकी प्रतिज्ञा की हमें क्या चिंता ? ऐसी दया करके यदि छोड़ने लगे तो फिर दया ही करते रह जायेंगे। मुझे यदि मौका मिलता तो मैं कभी नहीं छोड़ता।

चारों चौकीदारों की बातें सुनकर सुमति सोचने लगी– जिसका जैसा स्वभाव होता है, उसकी विचारधारा भी सतत् उसके अनुरूप ही चलती है। उसे वैसे ही कार्य करने में रस आता है। वैसे ही कार्य करने वालों की वह संगति करता है। उसके ही उपाय सीखता है और वैसे ही कार्य करके अपने को बहुत अच्छा समझता है। इनकी बातों से यह तो समझ में आ गया कि मांस भक्षण करने वाला चोर तो नहीं है, क्योंकि उसके वचन ही उसके अन्दर का कच्चा चिट्ठा बता रहे हैं। इसी प्रकार चिता पर ही दृष्टि रखने वाला सत्ताप्रिय व्यक्ति तो लगता है, परंतु चोर तो यह भी नहीं लगता तथा स्त्री लम्पटी के वचन उसके लम्पटपने को तो बता रहे हैं, मगर उस स्त्री के आभूषणों पर उसकी भी दृष्टि नहीं गई, अतः चोर तो यह भी नहीं हो सकता; लेकिन बकरा चुराने वाले के अन्दर के भाव तथा वचन दोनों ही चौर्य कर्म के पोषक ही निकल रहे थे। कितने रसपूर्वक वह चोरी की बात कर रहा था। जैसे वह बहुत ही बहादुरी का कार्य कर रहा हो, परंतु ऐसा कहकर वह अपनी मूर्खता ही प्रदर्शित कर रहा था। इसलिए निश्चित ही यह चोर है, क्योंकि यह मौका मिलने पर चोरी करना नहीं चूकता।

अतः चोर का निर्णय तो सुमति को हो गया, परंतु माल कैसे निकलवाया जाय –इसका उपाय सोचने के लिये उसे कुछ समय चाहिए, इसलिए सुमति ने चारों चौकीदारों से कहा कि आप सभी अपने–अपने कमरे में जाकर आराम कीजिये। रात्रि अधिक हो गई है, मैं भी अब आराम करूँगी। सुबह पुनः मिलेंगे। चारों चौकीदार अपने अपने कमरे में जाकर आराम करने लगे और यहाँ सुमति अपने पलंग पर लेटी–लेटी यह सोचने लगी कि चोर से माल (एक हजार दीनारें) कैसे निकलवाया जावे। अपराध करते प्रत्यक्ष देखे बिना अथवा समुचित प्रमाण के बिना सीधे तो किसी को अपराधी घोषित किया नहीं जा सकता। अतः उसने अपना कार्यसिद्ध करने के लिये एक चाल और चली।

दूसरे दिन सुमति ने बकरा चुराने व चोर को मूर्ख बतलाने वाले को बुलाकर अपने पास बिठाया और कहा कि मैं तुझ पर बहुत आसक्त हूँ और तेरे ही साथ रहना चाहती हूँ, पर मेरे पिता ऐसा करना पसन्द नहीं करते। अतः मैंने यह सोचा है हम दोनों किसी अन्य गाँव में भाग चलें, वहाँ सुखपूर्वक रह सकेंगे। वह चोर तो था ही, यह सुनकर उसे विषयों की आँधी भी चढ़ गई। वह सोचने लगा कि इन दीनारों के प्राप्त होने पर अब धन सम्पदा की तो कोई कमी है नहीं और फिर इतनी सुन्दर स्त्री भी अनायास ही अपने को प्राप्त हो रही है, इसे छोड़ना भी योग्य नहीं ऐसी विषय की चाह ने उसे विवेकहीन बना दिया और उसने दूसरे गाँव भाग चलने की स्वीकृति दे दी। इस पर सुमति ने कहा कि यह तो ठीक है कि आपने मेरी बात स्वीकार करली, दूसरे गाँव में रहकर ही दोनों आनन्द से जीवन बिता सकेंगे, पर राह खर्च तो चाहिये और मेरे पास तो मात्र, एक छोटी–सी पोटली दिखाते हुए कहा इतना–सा धन है, कुछ आपके पास भी है या नहीं ?

काम के वशीभूत हो, सुमति में आसक्त हो जाने से उसे कुछ सुधबुध ही नहीं रही और अपने पास भी धन होने की बात स्वीकार करते हुए उसने अपने पास की एक हजार दीनारों की थैली सामने रख दी। सुमति ने पोटली ले ली और मधुर शब्दों में बोली अभी तो रात्रि का प्रथम पहर है, लोग जाग रहे हैं, मेरे पिता आदि भी जाग रहे हैं, अतः अभी चलना खतरे से खाली नहीं है। अभी थोड़ी देर अपनी अपनी जगह जाकर हम विश्राम करलें। रात कुछ गहरा जाने के बाद तथा लोगों के भी नींद में डूब जाने के बाद, मैं आपके पास आऊंगी और तब अपन दोनों ही चुपचाप भाग चलेंगे।

लौकिक चातुर्य में चतुर सुमति ने उस चोर को तो अपने पास से बिदा किया और दीनारों की पोटली अपने पिता चंड़कीर्ति कोतवाल को सोंपते हुए कौन चोर है यह भी बता दिया। सुबह होते ही कोतवाल चंड़कीर्ति ने चोर को माल सहित ले जाकर राजा के सामने पेश किया और राजा ने इस चोर को यह सजा दी है ऐसा नागश्री के पिता ने नागश्री को बताया।

पापों से भयभीत और अपने व्रतों की रक्षा करने में तत्पर नागश्री ने पिता से कहा, "जिस चोरी के पाप के कारण यहाँ ही इसप्रकार के महादुःख, दंड, धननाश, अपयश आदि सहने पड़ते हैं, अतः बिना दी हुई वस्तु लेने का त्याग करना तो परम हितकारी ही है और इसी का नाम तो अचौर्याणुव्रत है, जो मुनिराज ने मुझे दिया है। इसे कैसे छोड़ा जाय और छोड़ने से लाभ भी क्या है ? चोरी का भाव तो पाप ही है, उससे तो सभी व्यक्तियों को बचना ही चाहिये।"

पुत्री नागश्री की भावना को अच्छी तरह जानते हुए भी हितकारी जैनधर्म और व्रतों के स्वरूप से अनभिज्ञ और जैनधर्म के प्रति द्वेषभाव वश नागश्री के पिता को व्रत छुड़वाने का हट होने पर भी ऐसे प्रसंगों और उनसे प्राप्त दंड़ों को देखकर वह भी ढ़ीला पड़ चुका था और उसका मन भी कुछ पिघल गया था। इसी कारण उसे नागश्री के वचन और व्रत भी सारभूत प्रतीत होने लगे, अतः उसने नागश्री को यह व्रत भी रख लेने की स्वीकृति दे दी।

लोक में कहावत है न कि "भावना से भवन बनता है" नागश्री की भावना तो व्रतों को उत्तम प्रकार से पालने की थी। प्राणों को छोड़ना तो मंजूर था मगर व्रतों को छोड़ना तो दूर, परन्तु उनमें अतिचार लगाना भी बरदाश्त नहीं था। जब तीसरा व्रत रखने की भी स्वीकृति मिल गई तो उसका मन आनन्द विभोर हो उठा।

यह प्रत्यक्ष ही देखने में आता है कि जीवों की हिंसा, असत्य भाषण और चोरी के पाप से व्यक्तियों का अपयश होता है। मार, पीट, वध, बंधन, सर्वस्व हरण यहाँ तक कि प्राणों का नाश इत्यादि अनेक दुःख इसी भव में मिलते हैं और भविष्य में पशुगति के, नरकगति के अकथनीय अगणित दुःख प्राप्त होते हैं, जिनकी कल्पना मात्र रोमांच करा देती है। इन पापों से प्राप्त इस भव के दुःखदायी प्रसंगों को देख नागश्री पापों से अति भयभीत हो अपने व्रतों की रक्षा में तत्पर हो गई। इसलिये बुद्धिमान जीवों को चाहिये कि वे

अव्रतों के दोषों का और व्रतों के गुणों का विचार करें।

"प्रचुर स्वसंवेदन जिनकी मोहरछाप है, स्वरूपानन्द विहारी, जगत वंद्य, मोक्ष के साधक ऐसे मुनिवर धन्य हैं।" जो स्वयं संसार के पार को प्राप्त हुए हैं और तीन जगत के संसारी प्राणियों को संसार से पार उतारने में चतुर हैं, दर्शन–ज्ञान प्रधान जिनका आश्रम है, जिनका चित्त निर्मल है, ऐसे मुनिराज धन्य हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र, सम्यक्तप और धर्म रत्नों के धारक एवं दाता ऐसे परम तपस्वी उन तपोधनों को परमसुख की प्राप्ति के लिये मैं नमस्कार करता हूँ

व्रतों की स्वीकृति पाने से आनन्दित है मन जिसका और अपराधियों के अपराध देख पापों से भयभीत नागश्री अपने पिता के साथ आगे बढ़ी। चलते हुए रास्ते में हृदय को कंपा देने वाला दृश्य देख वह स्तब्ध हो गई। वह दृश्य ऐसा था कि नाक कान जिसके कटे हुए हैं और पुरुष के मस्तक के साथ बंधा है कंठ जिसका, महादुखित ऐसी एक नारी को एक स्थान पर देखा। दुर्दशायुक्त नारी के द्वारा किये गये अपराध को उसने अपने पिता से जानना चाहा।

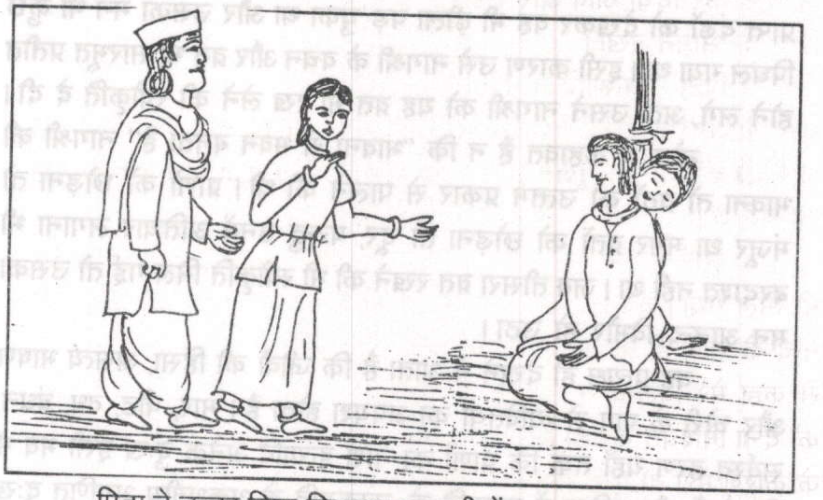

पिता ने उत्तर दिया कि इस चम्पापुरी में एक मनस्क नाम का वणिक है। उसकी जैनी नाम की स्त्री और नंद–सुनंद नाम के दो पुत्र हैं। वणिक सेठ की जैनी नाम की स्त्री का सूरसेन नाम का भाई है, जिसके "मदाली" नाम की कुंवारी कन्या है। एक बार मनस्क का पुत्र नन्द द्वीपांतर जाने को

तैयार हुआ तो उसने विचार किया कि मामा की लड़की मदाली से शादी करके दोनों का जाना उचित होगा। यह विचार उसने अपने मामा सूरसेन को बताया और कहा कि मैं बहुत दूर द्वीपान्तर को जा रहा हूँ, आप अपनी रूपवति कन्या मुझे अर्पित कर दो। यदि आपने यह कन्या किसी अन्य को दी तो आपको राजा की सौगंध हैं।

मामा सूरसेन ने कहा– "तुम कितने समय बाद परदेश से वापस आओगे यह बताकर जाओ।"

नन्द ने बारह वर्ष बाद वापस आने को कहा और द्वीपातर के लिये प्रस्थान किया। पर नन्द बारह वर्ष की अवधि से भी छः माह और अधिक हो जाने पर भी लौटकर नहीं आया तो सूरसेन कुछ चिंतित हुआ और विचारने लगा कि मैंने नन्द को वचन दिया था, अन्य को कन्या देकर वचन भंग करना उचित नहीं प्रतीत होता, पर कन्या युवति हो चुकी है और नन्द आया नहीं। बहुत कुछ राह देखने व विचार करने के बाद वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि नन्द हो या सुनन्द आखिर हैं तो दोनों भाई। इसलिये मदाली का विवाह सुनन्द के साथ कर दिया जावे और सूरसेन ने अपना यह विचार सुनन्द व उसके पिता के सामने रखा।

पिता–पुत्र आदि ने भी विचार कर अपनी स्वीकृति दे दी। फिर क्या था दोनों जगह शादी की तैयारियाँ होने लगीं, मंडप सजाये जाने लगे, मंगलाचार के गीतों की ध्वनियाँ गूजने लगीं। अब शादी होने में कुल पाँच दिन ही शेष रह गये थे।

इतने में नन्द भी द्वीपान्तर से वापस आ गया। और उसे यह समाचार भी मिल गया। तब सूरसेन मामा ने अपना विचार बदल मदाली की शादी नन्द के साथ ही करने को कहा। यह सुनकर बुद्विमान नन्द ने अपने मामा से कहा मेरे विलम्ब से आने के कारण आपने अपनी पुत्री मेरे छोटे भाई को देना निश्चित कर ही लिया है, इसलिए मदाली छोटे भाई की पत्नी होने के कारण मेरी तो पुत्री समान हो गई। अतः मैं उससे शादी कैसे कर सकता हूँ ?

उधर सुनन्द इस बात से अपरिचित था कि मामा ने अपनी कन्या मदाली मेरे बड़े भाई नन्द को देने का वचन दे रखा था। जब सुनन्द को अपने बड़े भाई के कहने पर यह ज्ञात हुआ तो उसने भी कुछ विचार किया

और विचार करने के बाद अपने मामा से कहा जब आप अपनी कन्या मेरे बड़े भाई को देने का वचन दे चुके थे तो वह कन्या मेरी भाभी होने से मेरी माता के समान है; इसलिए मैं भी उससे शादी नहीं कर सकता।

इसप्रकार दोनों ने ही शादी से इन्कार कर दिया और वह कन्या अपने पिता के घर ही पूर्ण योवनास्था को प्राप्त हो गई।

आगे क्या हुआ ? हुआ यह कि धनवानों की दो ही गति होतीं हैं या तो "धन–कण–कचंन त्याग शिवंपथ को चलें या फिर धन मद से मति भ्रष्ट हो पापाचरण करें।"

दूसरी ही गति उस मदाली की हुई। उसके पिता के घर के पास ही दूसरे मकान में एक दुष्ट दुर्बुद्धि नागचन्द्र नाम का वैश्य रहता था, उसकी बारह पत्नियाँ थीं और पूर्वपुण्य योग से वह बारह करोड़ दीनारों का स्वामी भी था। परन्तु पापी एवं व्यभिचारी होने से वह सूरसेन की मदाली कन्या पर आसक्त हो गया और कुकर्म करने लगा। पापोदय से उनका पाप थोड़े ही समय में प्रगट हो गया, जो कि सत्य ही है, पाप कभी छुपा नहीं रहता पाप का घड़ा फूटता ही है। अत्यन्त पाप कर्म के उदय से उनका व्यभिचार नगर में हवा की तरह फैल गया, परन्तु पापी दुराचारी नागचन्द्र मदाली के साथ निरन्तर व्यभिचार में तत्पर ही रहा। ऐसा सुनकर चंडकर्म कोतवाल ने दोनों अनाचारियों को पकड़ कर राजा के सन्मुख पेश किया। उसका राजा ने यह दंड दिया है।

पिता के मुँह से ऐसे वचन सुनकर नागश्री बोली 'पिताजी ! शीलव्रत के बिना अनाचारियों को इतने महान दुःख भोगने पडते हैं तो मैंने कलंक रहित और जगतपूज्य ऐसा जो शीलव्रत लिया है, वह कितना हितकारी है, उसे आप क्यों छुड़ाना चाहते हैं ?"

दुराचारियों की प्रत्यक्ष दुर्दशा देखकर नागशर्मा निरुत्तर सा रह गया। और मन में सोचने लगा कोई बात नहीं एकदेश शीलव्रत ही तो लिया है, यह व्रत विवाह आदि का प्रतिबंधक नहीं है, इसलिये उसने इस व्रत को भी रख लेने की नागश्री को स्वीकृति दे दी। परन्तु इनके अलावा जो व्रत बच गये हैं, उन्हें तो छोड़ देने के लिये कहा।

नागश्री मन में आनन्द के साथ आगे बढ़ती जाती थी और सोचती जाती थी कि पिताजी को भी सद्बुद्धि आती जा रही है और मेरे पण्योदय

से एक के बाद एक ऐसे प्रंसग उपस्थित होते ही जा रहे हैं, जो मेरे व्रतों की रक्षा वा पिताजी को सद्बुद्धि में निमित्त बनते जाते हैं। चार व्रतों की स्वीकृति तो मिल ही गई।

अब सत्य के प्रताप से शेष एक की भी स्वीकृति मिल ही जावेगी। कुछ दूर चले कि पाँचवां प्रसंग भी सामने आ गया।

क्या था वह प्रसंग ? वह यह था कि सिपाही लोग एक मनुष्य को मारते–मारते ले जा रहे थे। तब नागश्री ने अपने पिता से उसे बांधकर ले जाने व मारने का कारण पूछा।

पिता ने जबाव दिया–"इस मनुष्य का नाम वीरपूर्ण है, यह सदा दूध का ही भोजन करता है और महान लोभी है। यह राजा की अश्वशाला का रखवाला है उस अश्वशाला में बहुत घास होने के कारण घास चरने हेतु गाय, भैंस आदि का एक घण (खेड़) घुस गया। यह उस घण को पकड़ कर राजा के पास ले गया, तो राजा ने पूरा घण उसे ही दे दिया। वह लोभी तो पहले से ही था। अब और लोभ बढ़ जाने से वह कहने लगा इस गाँव में जितनी अच्छी गायें हैं, वे सभी राजा ने मुझे दे दी हैं। इसप्रकार कहता हुआ वह गाँव की सभी अच्छे अच्छे गाय–बैल आदि ले गया, इतना ही नहीं रानी साहब के पास में भी जो अच्छी–अच्छी गायें–भैंसें थीं, वे भी उसने ले लीं। इस पर रानी बहुत क्रोधित हुई और राजा से सारी हकीकत कह सुनाई। इस पर चन्द्रवाहन राजा ने अत्यन्त क्रोधित होकर उस महालोभी

पापी को शीघ्र मार ड़ालने की आज्ञा दे दी। इसीलिये सिपाही लोग इसे बांधकर मारते हुए ले जा रहे हैं।"

पिताजी के मुँह से यह बात सुनकर नागश्री बोली "पिताजी ! जब अति परिग्रह के लोभ से ऐसे बंधन, मारण, ताड़न और प्राणों का हरण जैसे महादुःख सहने पड़ते हैं तो मैंने श्री मुनिराज से जो परिग्रह–परिमाणव्रत लिया है, उसको पालना तो हितकर ही है, मैं तो उसे मरणपर्यन्त भी नहीं छोड़ूंगी" पुत्री की दृढ़ता और जैनव्रतों की सत्यता तथा हितकारकपने को देखते हुए नागशर्मा ने नागश्री को यह व्रत भी रख लेने की स्वीकृति दे दी। पर जैनधर्म के प्रति द्रोहपना उसका अभी भी शमन नहीं हुआ था।

इसलिये वह विचारने लगा कि व्रत भले ही वापस न कराऊँ; परन्तु माता--पिता की आज्ञा बिना किसी के बच्चों को उसने व्रत क्यों दिये ? इसलिये वहाँ जाकर उनको डांट फटकार कर उनका अपमान तो अवश्य करना ही है। ऐसा विचार कर वह चलते चलते थक गया था, इसलिए अपनी पुत्री के साथ वहीं एक वृक्ष की छाया में बैठकर विश्राम करने लगा।

वहाँ वह सोचता है– जैन साधुओं की बात सत्य तो लगती है, मगर हमारे गीता आदि से तो मेल नहीं खाती है।

कुछ विचार करने के बाद उसके अन्दर एक प्रश्न उत्पन्न हुआ कि संसार में प्रायः सभी प्राणी दुःखी हैं और वे दुःख के नाश हेतु ही अथवा सुख और शांति को प्राप्त करने के लिये ही धर्म अंगीकार करते हैं; क्योंकि धर्म से ही सुख और शांति मिलती है और उसी धर्म में पर प्राणियों को दुःख देना बताया जाय, उनके प्राणहरण कर बली आदि चढ़ाये जावें, वह धर्म कैसे हो सकता ? इस प्रश्न ने उसके हृदय को झकझोर ड़ाला। सच्चा धर्म तो जैनधर्म ही लगता है, परंतु मैं तो ब्राह्मण हूँ, मैं अपने धर्म को झूठा भी कैसे कहूँ ?

नागशर्मा को जैनधर्म की सत्यता तो प्रत्यक्ष दिख ही गई थी और उसका मन भी कबूल कर रहा है– "जैनधर्म ही सत्य है", लेकिन यदि मैं जैनधर्म को ही सत्य मानने लगूं तो लोग मुझसे कहेंगे– जिस नागदेवता की पूजा से तेरे को यह कन्या प्राप्त हुई, तूं उनका ही द्रोही हो गया ? इतने महान देवता को छोड़कर इन नंगों की बातों में आ गया ? इत्यादि।

पुनः उसका हृदय बोलता है– सत्य को, जाति , कुल , मान–प्रतिष्ठा

या संख्या की जरूरत नहीं। वह अपनी पुत्री सहित उठकर चलने लगा।

पुनः उसके मन ने गुलांट खाई, अरे ! क्या खबर, कहीं इन नंगों ने अपना चमत्कार दिखाने के लिये कुछ षड़यंत्र तो नहीं रचा होगा ? उसे संशय रूपी नाग ने फिर ड़स लिया, इसलिए वह चलते चलते कुछ रुका। फिर सोचा– कुछ भी हो साधुओं के पास तक पहुँचना तो है ही, जो भी होगा प्रत्यक्ष में ही देखेंगे। इस प्रकार के विचारों से युक्त नागशर्मा अपनी पुत्री नागश्री सहित, जहाँ मुनिराज विराजमान थे, वहाँ पहुँचा तब नागश्री तो मुनिराज को नमस्कार कर गुरुचरणों के समीप ही बैठ गई, परंतु नागशर्मा ने तो दूर खड़े रहकर ही मुनिराज को कठोर एवं निन्दनीय वचन कहना शुरू कर दिये।

अरे दिगम्बर ! तूंने मेरी पुत्री को जो पाँच व्रत दिये हैं, वे हमारे ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश के द्वारा कहे गये वचनों के विरुद्ध हैं, अतः तुमने ब्राह्मण कन्या को उसके धर्म से विपरीत व्रत देकर अत्यन्त अयोग्य कार्य किया है। तुम्हें वेदशास्त्रों का भी तो विचार करना चाहिए था।

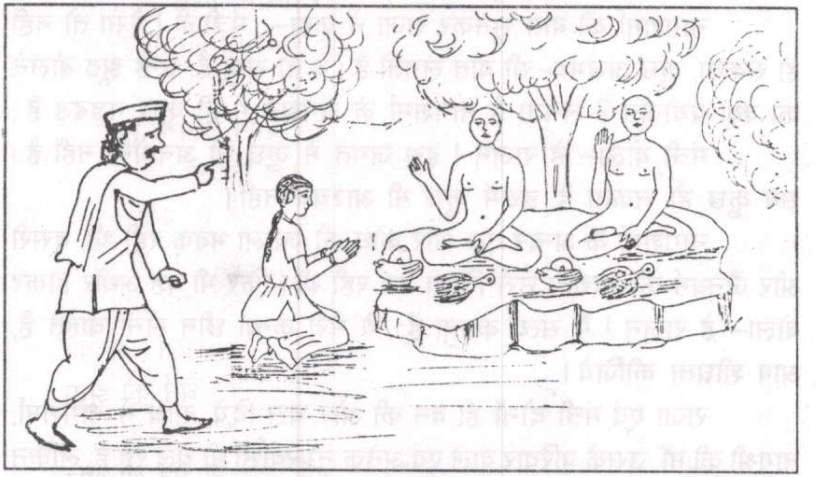

श्री मुनिराज असभ्यजनों के साथ वार्तालाप कभी नहीं करते, वे तो ऐसे अवसरों पर सदा मौन रह आत्मसाधना ही करते हैं। परंतु मुनिराज ने नागशर्मा को अवधिज्ञान से निकट पात्र जान मधुर शब्दों में उत्तर दिया -

हे विप्र ! मैंने अपनी जानकर ही पुत्री को ये पंचाणुव्रत दिये हैं, जो कि धर्म के बीज और दया के मूल हैं, इनसे क्या आपका कुछ बिगाड हुआ है ?

मुनिराज के ऐसे वचन सुनकर नागशर्मा आग–बबूला होता हुआ बोला– "नागश्री तेरी कन्या कैसे हो गई ? अरे यह तो और भी गजब हो गया, – यह तो मेरी पुत्री ही छीन लेना चाहता है। ठहर जा, इस बात का निर्णय अभी राजा से ही करा देता हूँ। इसप्रकार बड़–बड़ाता हुआ दौड़ा–दौड़ा राजा के पास पहुँचा और हाँपता हुआ राजा से अपनी बात कहने लगा।

प्रथम तो राजा ने कहा– जरा शान्त हो जाओ, फिर अपनी बात कहना।

कुछ समय रुकने के बाद नागशर्मा ने हाथ जोड़कर राजा साहब को प्रणाम करते हुए कहा– हे राजन् ! आप सभी यह अच्छी तरह जानते हैं कि नागश्री मेरी ही कन्या है और इसी नगर के वन में दो नंगे साधु आये हुए हैं वे मेरी नागश्री को अपनी कन्या कह रहे हैं। वे असत्य बोलकर जबरदस्ती मेरी कन्या छीन लेना चाहते हैं। अतः आपसे मेरी प्रार्थना है कि आप वहाँ पधारकर निर्णय करने की कृपा कीजिये।

नागशर्मा की बात सुनकर राजा ने कहा– मंत्रीजी ! ऐसा तो नहीं हो सकता, कुछ असंभव–सी बात लगती है। वे तो साधु हैं, उन्हें झूठ बोलने का क्या प्रयोजन ? लगता है नागशर्मा के समझने में ही कुछ गड़बड़ है।

मंत्री बोला– हे राजन् ! इस जगत में कुछ भी अनहोनी नहीं है। सब कुछ हो सकता है, इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं।

नागशर्मा के अन्दर एक ओर क्रोध की ज्वाला भवक रही थी, दूसरी ओर जैनधर्म की सत्यता उसे विवश कर रही थी। फिर भी वह अधीर होकर बोला– हे राजन् ! मैं सत्य कहता हूँ , वे मेरी कन्या छीन लेना चाहते हैं, आप शीघ्रता कीजिये।

राजा एवं मंत्री दोनों ही वन की ओर चल दिये, साथ में नागशर्मा, नागश्री की माँ, उसके परिवार वाले एवं अनेक नगरवासी भी चल रहे हैं, लेकिन राजा साहब को तो जैन साधु पर पक्का विश्वास था कि भले ही सुमेरुपर्वत चलायमान हो जावे, चाहे अग्नि ठंड़ी हो जावे; परंतु दिगम्बर साधु कभी भी, किसी भी कारण झूठ नहीं बोलते। वे सत्य महाव्रत के धारी होते हैं, सम्पूर्ण परिग्रह के त्यागी होते हैं।

मंत्री बोला– राजन् ! फिर भी नागशर्मा कह रहा है, अतः विचारणीय बात तो है ही।

राजा ने कहा– ठीक है, अभी सभी लोग साधु जी के पास चल ही रहे हैं, वहीं पुरोहित की बात का समाधान हो जायेगा।

राजा के वचन को मंत्री झूठ तो नहीं कह सकता था, परंतु साधु के प्रति शंकाशील अवश्य था।

राजा साहब सोचते जा रहे हैं, अरे ! जब जैनसाधु अपने वदन को ढ़कने के लिये वस्त्र का जरा सा टुकड़ा भी नहीं रखते, प्रतिदिन भोजन भी नहीं करते, और जब कभी जाते हैं तो प्रतिज्ञा भी कितनी कठोर रखते हैं। इतने तो अपने शरीर से निर्मोही रहते हैं। उन्हें किसी की पुत्री को अपना बनाने का क्या प्रयोजन ? ऐसे तपस्वियों को झूठ बोलने का कुछ प्रयोजन भी तो नहीं दिखता, अतः इसमें अवश्य कोई न कोई गम्भीर रहस्य होना चाहिये। ऐसा विचार कर राजा एवं अनेक सभासद अपनी शंका निवारणार्थ मुनिराज के पास पहुँचे।

सभी व्यक्ति एक से विचार वाले नहीं होते। कितने तो मुनिराज को वंदन कर धर्मश्रवण की भावना लेकर गये थे, कितने ही आश्चर्य से विवाद सुनने और कितने ही मात्र तमाशा देखने को वन में पहुँचे थे।

"वहाँ चन्द्रसमान निर्मल ज्ञान, वैराग्य से सम्पन्न, अगणित लागों से पूज्य, प्रासुक (निर्जन्तु) भूमि पर ध्यानस्थ विराजमान श्री सूर्यमित्र मुनिराज को देख, उन महाव्रतधारी, धीर–वीर गुरु महाराज को नमस्कार कर सभी जन शान्ति से बैठ गये।"

जब मुनिराज का ध्यान खुला, तब राजा ने अति ही विनय पूर्वक नतमस्तक हो श्रीगुरु से प्रश्न किया। "हे स्वामिन् ! भले ही समुद्र अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर जाय, भले ही कुलाचल पर्वतों सहित सम्पूर्ण पृथ्वी उथल–पुथल हो जाये अथवा अन्य कुछ भी अनहोनी हो जाये, परन्तु सत्य महाव्रतधारी मुनिराजों के मुख से निकले हुए वचन कदापि असत्य नहीं होते", यह मैं अपने हृदय में अच्छी तरह जानता हूँ। फिर भी हे प्रभू मैं आपसे अपने मन में उत्पन्न हुई शंका का समाधान अवश्य चाहता हूँ और वह यह कि जो आपके चरण कमलों के समीप बैठी हुई है वह नागश्री किसकी पुत्री है?

मुनिराज ने कहा– हे राजन् ! थोड़ा धैर्य रखिये, सबकुछ अभी स्पष्ट हो जायेगा राजा की शंका के समाधान हेतु मुनिराज नागशर्मा से बोले– यदि नागश्री आपकी पुत्री है –यह तो ठीक है; परन्तु जरा यह भी तो बतलाईये

कि आपने इसे कुछ पढ़ाया है ? कुछ धार्मिक शिक्षा दी है ? कुछ सदाचरण सिखाया है ? क्योंकि पढ़ने–पढ़ाने से ही अज्ञान का नाश होता है।

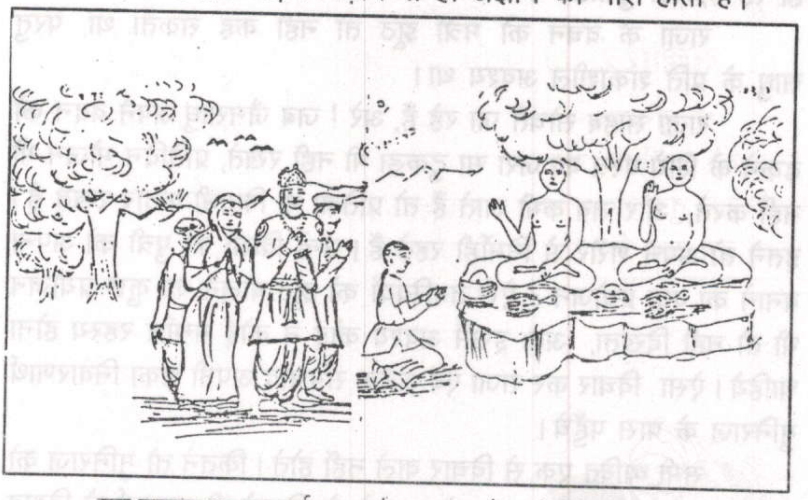

यह सुनकर नागशर्मा कुछ ठंड़ा पड़ा और सोचने लगा। बहुत सोचने के बाद भी वह निरुत्तर ही रहा। तब राजा ने नागशर्मा से कहा– पुरोहितजी! कुछ जबाव दीजिये, मौन क्यों हो गये ? नागशर्मा ने कहा प्रभु ! मैंने तो इसे एक अक्षर भी नहीं पढ़ाया, तब धार्मिक शिक्षा या सदाचरण की बात ही क्या करना।

तब मुनिराज ने कहा तो फिर यह आपकी पुत्री कैसे हो सकती है? इस पर नागशर्मा पुनः बोला, यदि आपने पढ़ाया है, तो बतलाईये आपने क्या पढ़ाया है ?

पुनः मुनिराज ने कहा– "मैंने तो इसे अनेक शास्त्र पढ़ाये हैं, मेरे कथन में रंचमात्र भी झूठ नहीं।"

मुनिराज के वचनों पर सभी को विश्वास होने पर भी अन्तर्गभित रहस्य से अज्ञात होने के कारण सभी आश्चर्य में पड गये। राजा चन्द्रवाहन ने पुनः हाथ जोड़कर नम्रतापूर्वक नमस्कार करते हुए कहा–

'हे स्वामिन् ! हे गुरुवर ! आपने इस कन्या को जो धार्मिक शिक्षा दी है, शास्त्र पढ़ाये हैं तो उसकी परीक्षा लीजिये, जिससे सभी को विदित हो जाये।'

राजा की भावना को प्रत्यक्ष दिखाने हेतु मुनिराज ने कहा–

राजन् ! यह कन्या सभी शास्त्रों की परीक्षा सभी के समक्ष अभी देगी। धैर्यपूर्वक ध्यान से सुनिये।

सत्शास्त्रों के पठन का भवान्तरों में सद्भाव

श्री मुनिराज ने भरी सभा में जहाँ बड़े–बड़े विद्वान उपस्थित थे, उस कन्या को आर्शीवाद स्वरूप हाथ ऊँचा करते हुए कहा, "हे वायुभूते ! मुझ सूर्यमित्र ने तुझे राजगृह नगर में जो बहुत से शास्त्र पढ़ाये थे, उन सभी की परीक्षा इन सभी विद्वानों के समक्ष दो, जिससे सभी का संदेह दूर हो।"

इतना कहते ही नागश्री अपनी मधुरवाणी द्वारा सरस्वती के समान अनेक शास्त्रों का पाठ करने लगी। उस समय उपस्थित विद्वानों ने उससे चार अनुयोगों का स्वरूप पूछा और भी अनेक प्रश्न पूछे,जिनके नागश्री ने सयुक्ति, प्रमाण सहित यथायोग्य उत्तर दिये और इस प्रकार राजा आदि हजारों जन समुदाय के सामने शास्त्र परीक्षा दी। जिससे सभी के मन में बड़ा हर्ष व आश्चर्य हुआ।

यह देखकर चन्द्रवाहन राजा ने मुनिराज को नमस्कार करते हुए कहा– प्रभु ! यह आपकी ही पुत्री है, ब्राह्मण की नहीं। "हे प्रभु ! आपने इसे वायुभूति कह कर सम्बोधा, इसका रहस्य हमारी समझ में नहीं आया, कृपया इसे भी बताइये।"

प्रश्न होना भी स्वाभाविक ही था, क्योंकि प्रत्यक्ष में नागश्री बैठी है,

परीक्षा भी वही दे रही है, फिर भी वायुभूति कहने का क्या कारण है ? अथवा इसी का नाम मुनिराज ने वायुभूति रखा है, अथवा यह कभी मुनिराज के संबंध एवं संपर्क में रही है ? आखिर है क्या रहस्य ?

राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए श्रीगुरु ने कहा यह जो नागश्री का जीव है यह पूर्वभव में वायुभूति ही था। यह सुनकर राजा को और भी जिज्ञासा जागी और उसने मुनिराज को नमस्कार कर उनसे वायुभूति के पूर्वभवों का विस्तार से वर्णन करने के लिये प्रार्थना की।

पूर्वभवों की लम्बी कथा दुःखों से भरपूर थी। इस संसार में सुख रंचमात्र भी नहीं है। सुख तो दूर सुख की परछाईं भी इस संसार में नहीं है। आत्मानुभूति का प्रगट होना ही सच्चे सुख का जन्म है और शाश्वत सुखमय निजात्मा ही सच्चे सुख की जन्मभूमि है।

उस सभा में चतुर्गति भ्रमण करने वाले भी बहुत थे, और संसार दुःख से थके चित्त वाले निकट भव्य भी बहुत थे ऐसा जानकर श्री मुनिराज ने कहा– हे राजन् ! आप सभी अपने मन को स्थिर करके यह वैराग्यभाव जागृत करने वाली कथा सुनो।

वायुभूति और मेरे पूर्व जन्मों के सम्बन्ध, भवान्तर तथा उन भवों में जो पुण्य–पाप किये उनका व उनके फल आदि का मैं वर्णन करता हूँ । नागश्री के जीव ने पूर्वभवों में बहुत ही पाप किये थे, उससे दुःखकारक जो दुर्गतियाँ उसे प्राप्त हुईं थीं और अब थोड़े पुण्योदय से यह ब्राह्मणपुत्री हुई है, उन सबका मैं वर्णन करता हूँ।

नागश्री के भवों का वर्णन

इस भरतखण्ड के वत्सदेश में कौशांबीनगर है। वहाँ अतिबल नाम का राजा राज्य करता था, उसकी मनोहारी नाम की पटरानी थी। उस राजा के सोमशर्मा नाम का पुरोहित था, जो शास्त्रों का जानकार था, उसकी काश्यपी नाम की स्त्री एवं अग्निभूति और वायुभूति ये दो पुत्र थे। उस पुरोहित ब्राह्मण ने उन पुत्रों को बचपन से ही बहुत लाड़–प्यार से पाला, उसकी भावना थी कि ये पढ़–लिख कर अच्छे सुयोग्य बन जायें इसलिये उसने उन्हें पढ़ाने का बहुत प्रयत्न किया, उचित व्यवस्था भी की, परन्तु वे खेल कूद में मस्त रहने से पढ़–लिख नहीं सके अर्थात् मूर्ख ही रहे। पापोदय से थोड़े ही समय बाद उनके पिता सोमशर्मा की मृत्यु हो जाने पर राजा ने उन दोनों पुत्रों

को उनकी मूर्खता से अपरिचित होने के कारण अनजान में ही पुरोहित का पद दे दिया, जिससे वे दोनों सुखपूर्वक समय बिताने लगे, परन्तु शास्त्र ज्ञान तो वे जानते ही नहीं थे।

विद्या जग में सुख की खान, विद्या से मिलता है ज्ञान।
सम्यक्ज्ञान सदैव प्रधान, जिससे मिलता मोक्ष निधान।।

सत्य ही है कि मूर्खता दुःखदाई होती है। लोक में भी विद्या अर्जन करने वाला साधारण–सा व्यक्ति भी उच्च पद पा लेता है और लौकिक सुख सामग्री या भौतिक सुख का वेदन कर लेता है, फिर लोकोत्तर विद्या के अर्जन का तो कहना ही क्या। वह तो स्व–पर की सच्ची कल्याणकारिणी होती है। ज्ञान की पूर्णता ही अनन्त अव्याबाध अतीन्द्रिय सुख की अविनाभावी है।

एकबार अनेक देशों में घूमते हुए एक विजयजिह्व नाम का विद्वान जो कि न्याय शास्त्रों में निपुण, वाद–विवाद में अनेकों को पराजित कर उनका अभिमान चूर करने वाला, राजमहल में आया और महल के दरवाजे पर एक पत्रिका लगा दी।

उसमें यह लिखा हुआ था– "जो राजपुरोहित हो, वह मेरे से वाद–विवाद करे, अन्य को अधिकार नहीं।" इसलिये राजा अतिबल ने उन दोनों को वह पत्रिका दिखाकर उन्हें उस विद्वान से वाद–विवाद (शास्त्रार्थ) करने की आज्ञा दी।

उन मुर्खों ने वह पत्रिका फाड़ कर फैंक दी। इससे राजा अतिबल को उनकी मूर्खता का ज्ञान हुआ और उसने उनसे राज्य पुरोहित पद छीनकर सोमिल नाम के ब्राह्मण को राज्य पुरोहित बना दिया। इस मानभंग के कारण वे दोनों बड़े दुःखी हुए और उनकी आजीविका का साधन भी जाता रहा। जब कुछ भी साधन नहीं रहा तो उनकी आँखें खुलीं; अरे रे ! पिताजी ने हमें पढ़ाने के बहुत प्रयत्न किये, परन्तु हम लोगों ने पढ़ा ही नहीं और अज्ञानी ही बने रहे इसी से आज हमें यह दिन देखना पड़ा।

"ज्ञानरूपी नेत्र के बिना धर्म–अधर्म की भी परीक्षा नहीं हो सकती," जब यहाँ ही प्रतिष्ठा नहीं मिलती तो परलोक में कल्याण कहाँ से होगा। "जिनने संसार का एवं संसार से पार उतारने वाले तत्वों के स्वरूप को प्रकाशित करने वाली शिक्षा गुरु से प्राप्त नहीं की, ज्ञाननेत्र प्राप्त नहीं किये वे दुर्बुद्धि सच्ची शिक्षा या हितोपदेश आदि कुछ भी नहीं जानते।" उनके तो दोनों भव

बिगड़ गये। ज्ञान से ही निर्मल कीर्ति होती है, ज्ञान द्वारा ही भव्य जीवों को समस्त ऋद्धियाँ एवं केवलज्ञान जैसा महान ज्ञान तक प्राप्त होता है। ऐसा विचार करते हुए दोनों श्रुताभ्यास के लिये अत्यन्त उत्सुक हो उठे और शीघ्र परदेश जाकर ज्ञानाभ्यास करने का दृढ़निश्चय कर लिया।

स्व-पर का कर तू ज्ञान, इसे ही कहते भेद-विज्ञान।
भेदज्ञान मुक्ति सोपान, पाते जिससे केवलज्ञान।।
केवल से पा सिद्धि दान, जो है अक्षय निधि महान।
अक्षय अमेय तत्व का ध्यान, रहता सादिनंत महान।।

जब उनकी माता काश्यपी को ज्ञात हुआ कि उसके दोनों पुत्र श्रुताभ्यास के लिये अत्यन्त उत्सुक एवं दृढ़ निश्चयी हैं, तो उसने अपने पुत्रों को राजगृही नगरी, जहाँ के राजा सुबल हैं एवं जिनकी सुप्रभा रानी है, ज्ञान–विज्ञान सम्पन्न विद्वानों में शिरोमणी पुरोहित अपने भाई सूर्यमित्र (जो कि अग्निभूति एवं वायुभूति का मामा था) के पास जाने की शिक्षा दी।

काश्यपी ने अपने पुत्रों से कहा कि वे तुम्हारे मामा हैं; अतः तुम्हारे हितेच्छु हैं, तुम्हें भले प्रकार से विद्या अभ्यास करावेंगे।

माता की बात सुनकर दोनों ही राजगृही नगर को पहुँचे और ब्राह्मणों में श्रेष्ठ अपने मामा सूर्यमित्र को नमस्कार कर कहने लगे "हे मामा ! हमारे पिताजी ने हमें पढ़ाने के लिये बहुत प्रयत्न किये, परन्तु हम लोग खेल–कूद में ही मस्त रहे और लाड़ प्यार में बिगड़ कर कुछ पढ़े लिखे ही नहीं, अतः मूर्ख ही रहे और पिताजी की मृत्यु के बाद हमें मिला राजपुरोहित पद भी राजा ने हमारी मूर्खता के कारण हमसे छीन लिया। अब हमें हमारी माताजी ने अभ्यास हेतु आपके पास भेजा है, "इसलिये आप ही अब हमारे पिता एवं गुरु हैं, आप ही हमारे हितकारक हैं, हम लोग विद्या अभ्यास हेतु आपके पास आये हैं, कृपा कर आप हमें शिक्षा दीजिये।"

पुरोहित सूर्यमित्र कुशाग्रबुद्धि वाला एवं शास्त्रज्ञ तो था ही । उसने सोचा कि यदि इन्हें लाड़–प्यार किया जावेगा और अच्छा भोजन व अन्य सुविधायें दी जावेंगी, तो ये बचपन से आलसी एवं खेल–कूद में मस्त रहने वाले तो हैं ही, ये पढ़ नहीं पावेंगे और अपने कार्य से वंचित रह जावेंगे। इसलिये उसने ऐसा विचार किया कि इनको कुछ भी नाता रिश्ता न बताया जाय एवं इन्हें भिक्षा भोजन कराया जाय तो यह इनके हित में अधिक उचित रहेगा।

ऐसा विचार कर सूर्यमित्र ने कहा कि न तो हमारी कोई बहन है और न ही हम तुम्हारे मामा हैं। अतः मेरा तुम्हारे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी यदि तुम विद्याभ्यास करना चाहते हो तो भिक्षावृत्ति से भोजन करना एवं विद्याभ्यास करना। यदि तुम्हें इसप्रकार विद्याभ्यास करना स्वीकार हो तो मैं तुम्हें विद्याभ्यास करा सकता हूँ।

उन दोनों ने सूर्यमित्र की बात सहर्ष स्वीकार करली और विद्याभ्यास करना प्रारम्भ किया। प्रमाद रहित एवं उपयोग लगाकर अभ्यास करने से थोड़े ही समय में उनने अनेक शास्त्रों का अभ्यास कर लिया एवं महानविद्वान बन गये।

देखो, बुद्धि तो उन ब्राह्मण–पुत्रों में थी, मात्र उसका सदुपयोग ही करना था। दुःखों ने उन्हें बुद्धि का सदुपयोग करने के लिये बाध्य कर दिया तो कुशल गुरु एवं शिक्षा का अमूल्य निमित्त पा उन दोनों में भी ज्ञान की सुबास महक उठी और ज्ञान की शीतल छाया में सुखों को भी पनपने का स्वर्ण अवसर मिल गया।

जब वे दोनों श्रुताभ्यास पूर्ण कर अपने घर वापस आने की तैयारी करने लगे तो विद्वान सूर्यमित्र ने उन्हें अनेक प्रकार के वस्त्रादि एवं उपकरण देकर बिदाई देते हुए कहा–मैं तुम्हारा हितेच्छु मामा ही हूँ, परन्तु यदि मैं

भी तुम्हारे पिता के समान लाड़–प्यार कर तुम्हें सुख सुविधा से रखता तो तुम लोग अब भी विद्याभ्यास से वंचित ही रहते, ऐसा विचार कर ही मैंने तुम्हें

गरीबी की स्थिति में रख कर भिक्षा भोजन कराके विद्याभ्यास कराया है।

"जिनकी भली होनहार होती है वे पात्र जीव गुणों को ही ग्रहण करते हैं।" अपने मामा के वचन सुनकर अग्निभूति तो मामा की महिमा एवं उपकार से आविर्भूत हो उठा और विनम्र भाव से मामा का गुणगान करने लगा। "आप ही हमारे पिता हो, आपने जो कुछ किया वह सर्वप्रकार से हितरूप पथ्य ही है। आपने हमारा जन्म ज्ञानदान से सफल कर मोक्षमार्ग प्रशस्त किया और आजीविका का उपाय भी बता दिया। विद्या और धर्मदान से महान और कोई दान नहीं है तथा ज्ञान और धर्म के दानी से महान कोई दानी नहीं है।" जो विद्या और धर्म के दाता का उपकार नहीं मानते वे मूर्ख एवं कृतघनी हैं, ऐसे व्यक्तियों की विद्या शीघ्र ही नाश को प्राप्त होती है वे परलोक में भी दुर्गति को पाते हैं। इसप्रकार अग्निभूति ने तो अपने विद्वान मामा का बहुत उपकार माना एवं गुणानुवाद किया। परन्तु.....।

प्रभु ! आपने मौन क्यों धारण कर लिया ? कृपया अपने मौन का रहस्य उद्घाटित कीजिये।

शिष्य की जिज्ञासा की तृप्तिहेतु गुरुराज मात्र दृष्टान्त देते हुए मौन हो जाते हैं। जिनकी होनहार खराब है उनकी बुद्धि गुणग्राही नहीं होती, वे तो ऐसे होते हैं जैसे गोंच (जोंक) को स्तन पर लगाने पर भी वह दूध तो ग्रहण नहीं करती, खून भी शुद्ध नहीं दूषित ही ग्रहण करती है ।

ठीक इसीप्रकार वायुभूति की भी दशा हुई। वह अपने शिक्षा दाता उपाध्याय सूर्यमित्र मामा को निन्दाजनक कठोर वचन कहने लगा––तूं हमारा काहे का मामा, तूं तो निर्दयी, नीच, चंडाल, दुश्मन के समान है, इसलिये तो तूंने हमें भिक्षा भोजन कराया।

दोनों के परिणामों में धरती–आशमान का अन्तर बता आचार्यदेव कहने लगे– "देखो दोनों सहोदर–दोनों ही को एक समान विद्यादाता, सूर्यमित्र के दोनों ही भानजे। पर दोनों के कर्म भिन्न–भिन्न, पात्रता भिन्न–भिन्न, होनहार भिन्न–भिन्न, यह वस्तु व्यवस्था की स्वतंत्रता का प्रत्यक्ष उदाहरण है।" लोक में भी कहावत है–**"विनाशकाले विपरीतबुद्धि।"**

उसके बाद वे दोनों कौशांबी लौट आये और वहाँ पहुँचकर राजा के पास गये। राजा ने उन्हें आशीर्वाद दिया। वहाँ उन दोनों ने अपनी बुद्धि के अनुसार शास्त्र प्रवीणता का परिचय दिया और इसलिये राजा ने भी

सम्मानपूर्वक उनका राजपुरोहित पद उन्हें वापस दे दिया, इससे वे संपत्तिवान होकर सुखपूर्वक रहने लगे। इस बात को अब यहीं विराम देते हुए जो नई घटना घटी उसे भी जरा देख लें।

क्या कहा गुरुवर ? घटना घटी.....

हे भव्य ! तुम इतने चिंतातुर क्यों हो उठे हो ? अच्छी या बुरी, घटनायें तो सभी के जीवन में घटती ही रहती हैं। घटना शब्द सुनकर आप तो दुर्घटना समझ कर आकुल व्याकुल हो उठे ! थोड़ा धैर्य रखो, सभी बात स्पष्ट हो जावेगी–

जरा सुनिये–राजगृह नगर का राजा सुबल अपनी अगूंठी में रत्नजड़ित स्वर्ण की बहुमूल्य मुद्रिका पहने हुए था। स्नान करने से पूर्व जब वह अपने शरीर पर तैलमर्दन कराने को तैयार हुआ तो उसने तैल के कारण मुद्रिका की चमक धुधंली पड़ जाने के विचार से मुद्रिका उतार कर अपने पुरोहित सूर्यमित्र को सम्हला दी।

सूर्यमित्र अपनी अंगुली में मुद्रिका पहन कर अपने घर चला गया। वह स्नान आदि कार्य करके वापस राज्यसभा में आने को तैयार हुआ तो अपनी अंगुली में मुद्रिका न देख बहुत चिंतित हुआ। अतः परमबोध नामक निमित्त ज्ञानी को बुलाकर मुद्रिका कहाँ मिलेगी अथवा नहीं मिलेगी ऐसा पूछा।

निमित्त ज्ञानी ने कहा– 'अवश्य लाभ होगा' इतना मात्र कह कर वापस अपने घर चला गया।

पर सूर्यमित्र तो खेद–खिन्न अवस्था में महल में ही बैठा रहा।

उस समय उस नगर के बाहर उद्यान में पूज्यश्री सुधर्माचार्य महाराज चतुर्विध संघ सहित पधारे हुए थे। यह जानकर सूर्यमित्र को विचार आया कि ये जैन साधु भव्यजीवों के हितकारक, तीनलोक से पूज्य हैं चरण जिनके और बहुत ज्ञानी होने से अपने ज्ञाननेत्र से मुद्रिका को प्रत्यक्ष बता देंगे। इसलिये इनके पास गुप्त रूप से जाकर उनसे मुद्रिका के बारे में जानकारी प्राप्त की जाय।

पुरोहित सूर्यमित्र भी अपने पूर्व पुण्य के उदय से जिसकी काल लब्धि आ गई थी, सूर्यास्त से पहले ही मुद्रिका के सम्बन्ध में पूछने हेतु शीघ्र ही वन में श्री सुधर्माचार्य मुनिराज के समीप पहुँचा। वे ज्ञान–वैराग्य, ऋद्धि

आदि अनेक गुणों के आगार (घर) हैं, शरीरादिक से निर्मोही, मोक्ष साधन में लवलीन ऐसे योगीश्वर को देख लज्जा एवं अपने राज पुरोहित पने के अभिमान वश प्रश्न पूछने में कुछ सकुचाया, पर अपनी कार्यसिद्धि के लिये आतुर हो वहाँ उनके चारों ओर घूमने लगा। कुछ समय घूमने के बाद उसे ऐसा भाव आया– ये तो साधु लोग हैं और सूर्यअस्त होने के बाद क्या मालूम बोलेंगे या नहीं, इसलिये अब मुझे अपना अभिमान छोड़कर प्रश्न पूछ लेना चाहिए, ऐसा विचार कर सूर्यमित्र पुरोहित हाथ जोड़ कर मुनिराज के समीप ही बैठ गया।

अवधिज्ञान के धारी परमोपकारी योगीश्वर उसे अत्यन्त निकट भव्य जान उस पर अपने अमृतमयी वचनों की वर्षा करने लगे–"हे सूर्यमित्र ! राजा की रमणीक मुद्रिका तुम्हारे हाथ में से गिर जाने के कारण तुम चिन्ताग्रस्त हो और अपनी चिन्ता निवारण हेतु मेरे पास आये हो।"

सूर्यमित्र पुरोहित अपने द्वारा कुछ भी बताये बिना ही मुनिराज के मुख से अपने मन की बात सुन आश्चर्य चकित हुआ और श्रद्धावन्त हो मुनिराज को नमस्कार कर पूछने लगा, "हे प्रभु ! वह मुद्रिका कहाँ पड़ी है वह स्थान बताने की कृपा कीजिये।"

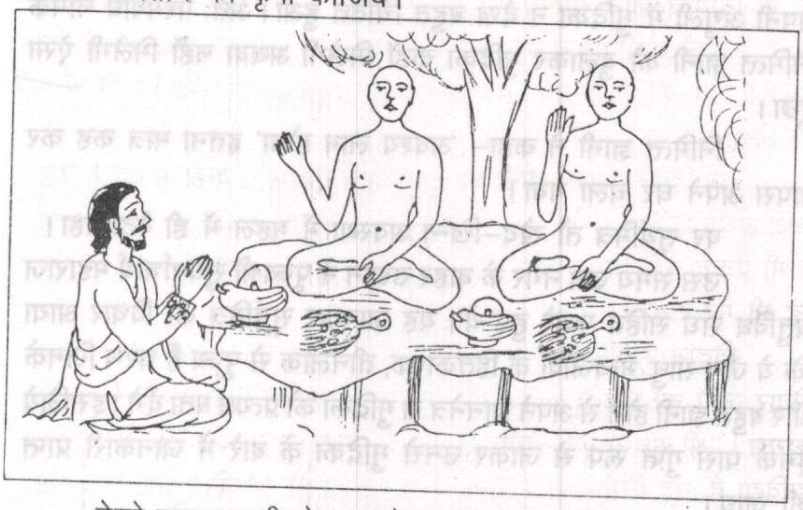

देखो उपादान की योग्यता के अनुकूल स्वतः निमित्त का मिलना। तीन ज्ञानरूपी नेत्रधारी योगीश्वर ने जबाव दिया, हे विद्वान ! "तुम्हारे महल के पीछे बगीचे वाले तलाब पर जाकर जब तुम सूर्य को अर्घ चढ़ा रहे थे

तब तुम्हारी अंगुली से मुद्रिका निकल कर सरोवर के कमल की एक पंखुडी पर गिर गई है। वह अदृश्य होने से अभी भी वहाँ ही पड़ी हुई है, इसलिये तुम मुद्रिका की चिन्ता छोड़कर मेरे वचनों पर विश्वास रखिये।"

पुरोहित यह सुनते ही तालाब के पास जाकर देखता है तो वास्तव में मुद्रिका वहाँ ही पड़ी थी। उसने साधु महाराज के उपकार की कृतज्ञता व्यक्त करते हुए कहा– हे गुरुवर आप ही इस लोक में महान हैं, आप ही धन्य हो, आप को बारंबार नमन हो, वहाँ से उठकर वह शीघ्र ही राजा के पास गया और मुद्रिका राजा को सोंप बड़ा ही विस्मय को प्राप्त हुआ।

अब पुरोहित को वह विद्या प्राप्त करने का भाव जागा, जिससे मुनिराज सर्व वृतान्त बिना कहे, और बिना देखे ही जान गये थे। उसने विचारा कि ये मुनिराज तो सर्व के प्रत्यक्ष ज्ञाता और ज्ञानियों में भी श्रेष्ठ महाज्ञानी हैं। ये समस्त निमित्त ज्ञानियों में श्रेष्ठ प्रतीत होते हैं, इसलिये इन योगीराज की आराधना करके उनसे यह विद्या प्राप्त कर लेनी चाहिये, जिससे सत्पुरुषों में, विद्वानों में मेरी महान प्रसिद्धी होगी, प्रतिष्ठा बढ़ेगी और महान ऐश्वर्य और उत्तम पद का लाभ होगा। इस प्रकार विचार कर महालोभी सूर्यमित्र गुप्त रूप से निमित्त ज्ञान सीखने हेतु श्री सुधर्माचार्य गुरुवर के पास गया।

उसने योगीजन व अन्य मुनिराजों को हाथ जोड़कर नमस्कार किया है और प्रार्थना की; हे भगवन् ! हे कृपानाथ। "प्रत्यक्ष अर्थप्रकाशिनी अतिदुर्लभ उस विद्या का दान मुझे दीजिये।"

तब हितेच्छु अवधिज्ञानी श्री सुधर्माचार्य गुरुवर ने कहा, हे भद्र ! "यह प्रत्यक्ष अर्थप्रकाशिनी परम विद्या निर्ग्रन्थ ज्ञानी मुनियों के अलावा अन्य किसी को भी प्रकट नहीं होती, यदि तुम भी वास्तव में इस विद्या के अर्थी हो, तो तुम्हें भी मेरे समान निर्ग्रन्थ होना होगा।"

विद्वान सूर्यमित्र ने आचार्यदेव के वचन सुनकर अपने घर जाकर परिवार जनों को एकत्रित कर उनके सामने अपना भाव रखा और कहा, हे बन्धुगण ! "श्री सुधर्माचार्य योगीराज के पास प्रत्यक्ष अर्थप्रकाशिनी, चमत्कारी महाविद्या है, वह निर्ग्रन्थ वेश बिना सिद्ध नहीं होती, इसलिये उसकी प्राप्ति हेतु मैं निर्ग्रन्थ भेष धारण कर छल से विद्या को लेकर शीघ्र ही वापस आ जाऊँगा, आप लोग मेरे वियोग में शोक नहीं करना।"

तब उसके बान्धव जनों ने कहा हे सूर्यमित्र ! विद्या के लोभ से जो

तुमने विचार किया है वह तो ठीक है, परन्तु कार्यसिद्धि होते ही तुरन्त वापस आ जाना, वहाँ अटकना मत।

आचार्यश्री तो यह सब जानते ही थे, इसलिये ही उन्होंने पहले से यह नहीं कहा–"पवित्र रत्नत्रय की विशेषता से ऋद्धियाँ प्राप्त होतीं हैं। गृहीत मिथ्यात्व को छुड़ाकर शनैः शनैः मार्ग पर लाने के उद्देश्य से उन्होंने मात्र इतना ही कहा कि निर्ग्रन्थ दीक्षा ले लो।"

परिवार जनों को सम्बोधित कर उनकी आज्ञा लेकर सूर्यमित्र ब्राह्मण विद्या के लोभ से मुनिवर के पास आकर उन्हें नमस्कार कर बोला, हे भगवन् ! "मैं स्वार्थ सिद्धि के लिये निर्ग्रन्थ दिगम्बर भेष धारण करना चाहता हूँ , हे कृपानाथ ! मुझे अनुगृहीत कीजिये।"

भावी घटनाओं के ज्ञाता उन मुनिराज ने पहले तो बाह्य परिग्रह के त्यागपूर्वक स्वर्ग–मोक्ष लक्ष्मी को वशीभूत करने वाले सारभूत २८ मूलगुण देकर, तीनलोक में कल्याणकारी, जगत वंदनीय ऐसी जिनेश्वरी दीक्षा उस ब्राह्मण को प्रदान की। ब्राह्मण ने दीक्षा तो विद्या के लोभ से ली थी, आत्मकल्याण के लिये नहीं, अतः नवदीक्षित ब्राह्मण गुरुवर से प्रार्थना करने लगा, हे गुरुवर! "मुझे शीघ्र वह विद्या दीजिये।"

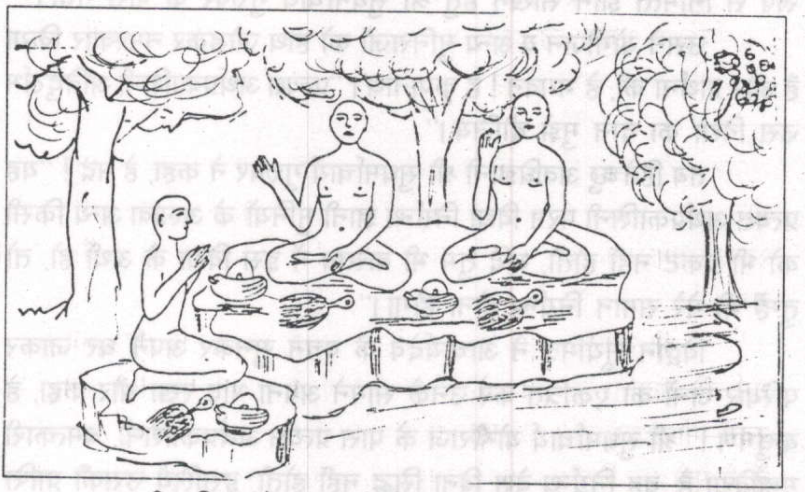

तब श्री मुनिवर ने कहा– हे विद्वान ! "सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र के बिना मात्र क्रिया कलाप के पाठ से वह विद्या सिद्ध नहीं होती।"

तब नवदीक्षित मुनि ने अपनी बुद्धि को सर्वउद्यम पूर्वक चारों अनुयोगों के अभ्यास – अध्ययन में लगाना प्रारम्भ किया। त्रेसठशलाका पुरुषों के पूर्वभवादिक, सुखसामग्री, आयु, वैभव आदि सूचक एवं पुण्य–पाप के फल दिखाने वाले सिद्धान्त और धर्म का कारण ऐसे प्रथमानुयोग को सीखा। लोक–अलोक का विभाग–उसका संस्थान, नरकों के दुःख, स्वर्गों के सुख, संसार की स्थिति का दीपक–ऐसा करणानुयोग गुरु के मुख से सीखा।

मुनियों एवं गृहस्थों का आचरण, महाव्रत, अणुव्रत तथा शीलव्रत के अठारह हजार भेद, चौरासी लाख उत्तरगुण तथा तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रतों का स्वरूप एवं उनका फल दर्शाने वाला चरणानुयोग तथा छह द्रव्य, सात तत्व, पांच अस्तिकाय, नव पदार्थ, पांच प्रकार का मिथ्यात्व, सत्य–असत्य मतों की परीक्षा, प्रमाण–नय द्वारा समस्त पदार्थों के संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित सत्य लक्षण जाने और जैनदर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र का स्वरूप जाना। सच्चे देव–शास्त्र–गुरु तथा झूंठे देव–शास्त्र–गुरु की परीक्षा भी द्रव्यानुयोग से जानी। इस तरह सूर्यमित्र मुनिराज द्रव्यानुयोग के यथार्थ अभ्यास द्वारा उत्तम सम्यक्त्व प्राप्त कर सम्यग्दृष्टि बन गये। हेय–उपादेय का सत्य ज्ञान हो जाने के कारण धर्म–अधर्म, शुभ–अशुभ, जैनधर्म–अन्य धर्म का भी यथार्थ भेद अपने निर्मल ज्ञान में अच्छी तरह जान लिया।

अहो ! दृष्टि का कमाल, जहाँ श्रद्धा ने पलटा खाया, वहाँ उसके अविनाभावी सभी गुणों की करवट बदल गई। सम्यक्श्रद्धा के साथ जागृत होने वाला विवेक भी स्व–पर का यथार्थ ज्ञाता हो गया और चारित्र में भी स्वरूपरमणता का अंकुर फूट पड़ा। काँच के लोभी को रत्नों का निधान मिल गया।

श्री सूर्यमित्र मुनिराज को जिनेन्द्र देव एवं उनके द्वारा प्ररूपित जैन धर्म की सत्यता का बोध हो जाने से कोई अपूर्व महिमा आने लगी। "यही स्वर्ग–मोक्षदाता होने से महान है। अन्य स्वार्थी लोगों द्वारा कल्पित धर्म झूँठे हैं, वे मुझे अब विष तुल्य भाषित होते हैं। वे मतान्तर नरकादि गतियों के दाता हैं। जैनधर्म में जीवादि समस्त पदार्थ सारगर्भित होने से वे ही सत्य एवं महान हैं। धर्म की उत्पत्ति अर्थात् सम्यग्दर्शन के लिये सर्वज्ञ प्रणीत शास्त्र ही निमित्तभूत होते हैं। मैंने कुमार्ग गामियों द्वारा कहे गये खोटे और अशुभ कुतत्वों

को सीखकर अपने जीवन का इतना समय व्यर्थ ही गमाया।"

"मति–श्रुत ये दो ही ऐसे परोक्ष ज्ञान हैं जिनके द्वारा ही केवलज्ञान समान सम्पूर्ण चराचर पदार्थों का ज्ञान हो सकता है।" अवधिज्ञान तो जगत के रूपी पदार्थों को उनके सम्बन्ध से भवान्तरों को प्रत्यक्ष देखता है। उसके देशावधि, परमावधि और सर्वावधि ऐसे तीन भेद हैं। यह अवधिज्ञान चारों गतियों में हो सकता है। रूपी एवं सूक्ष्म पदार्थों को प्रत्यक्ष देखने वाला मनःपर्यय ज्ञान है, जो तप की विशिष्टता से किन्हीं–किन्हीं योगियों को ही प्रकट होता है। घातिकर्मों के नाश से उत्पन्न, आत्मा में होने वाला, तीन जगत को देखने–जानने वाला सूर्य समान प्रत्यक्षज्ञान वह केवलज्ञान है। ये पांच प्रकार के ज्ञान जिनमें जगत के समस्त पदार्थ यथायोग्य स्पष्ट झलकते हैं, इनको कोई भी विद्वान किसी को दे नहीं सकता। ये ज्ञान तो आत्मसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा तथा ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्मों के क्षयोपशम–क्षय द्वारा योगियों को स्वतः उत्पन्न होते हैं।

मैंने यह बहुत ही उत्तम कार्य किया, जो अवधिज्ञान के लोभ से संयम धारण कर लिया। जैसे कन्दमूल को खोजते–खोजते निधि का लाभ हो जाय, वैसे ख्याति, लाभ, पूजा के लोभ से मुझे यह जिनेश्वरी दीक्षा का लाभ मिल गया। "परमोपकारी, जीवमात्र के हितवांछक, ज्ञान की आराधनारूप भला उपाय जानकर श्री सुधर्माचार्य गुरुदेव ने मुझे भगवती जिनदीक्षा दी, जो समस्त जगत हितकारिणी है। इस दीक्षा से मैं कृतकृत्य हो मोक्षमार्गी बन गया।"

"सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की एकतारूप जो बोधि, उसे मैं ने महान भाग्य से जिनशासन में पाई। अनन्तगुणों के सिंधू , भुक्ति, मुक्तिदायक निर्दोष अरहन्तदेव, अपार एवं दुस्तर संसार समुद्र से भव्य जीवों को तारने वाले ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु मैंने महान पुण्योदय से पाये हैं। ये निर्ग्रन्थ गुरु धर्मबुद्धि के धारक हैं।" मैं इस संसार में कुमार्गदाता, संक्लेशमय, मिथ्यामार्ग–संध्या तर्पणादि कार्य करके व्यर्थ ही खेदखिन्न हुआ। मिथ्यादृष्टि जीवों से एवं जिनधर्म से परांगमुख देवों द्वारा मैं ठगा गया। महापुण्योदय से अतिदुर्लभ जिनशासन को पाकर आज मैं धन्य हो गया। आज ही मैंने मोक्षमार्ग में गमन किया, जैसे ज्योतिषी देवों में सूर्य श्रेष्ठ है, धातुओं में पारा, पाषाण में सुवर्ण पाषाण,मणियों में चिन्तामणि, वृक्षों में कल्पवृक्ष, स्त्री–पुरुषों में शीलवान स्त्री–पुरुष, धनवानों में दातार, तपस्वियों में जितेन्द्रियपुरुष और

पंडितों में ज्ञानी श्रेष्ठ हैं, "वैसे ही समस्त धर्मों में जिनेन्द्र देव द्वारा भाषित दयामयी धर्म ही श्रेष्ठ है। समस्त मार्गों में जिनेन्द्रदेव का निर्ग्रन्थ भेषरूप मोक्षमार्ग ही श्रेष्ठ है।" जैसे गाय के सींग से दूध, सर्प के मुख से अमृत, कुकर्म से यश ,मान से महन्तपना कभी भी प्राप्त नहीं होते, वैसे ही कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु, कुधर्म और कुमार्ग सेवन से श्रेय अर्थात् कल्याण, शुभ अर्थात् पुण्यकर्म और शिव अर्थात् मोक्ष कदापि प्राप्त नहीं होता।'

"शाश्वत सुखदाता, जिनधर्म, जिनगुरु, सुशास्त्र का समागम होने से आसन्न भव्य सूर्यमित्र मुनिराज का हृदय उछल पड़ा।" इनकी जितनी महिमा अन्दर में आती है उसे व्यक्त करने के लिये शब्द भी कम पड़ते हैं। तीनलोक की सम्पदा भी जिसके सामने सड़े हुए तृण के समान भासति होती है "ऐसा महा महिमावंत अपना चैतन्य प्रभु है। सादि–अनन्त पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द में केली करने वाले सिद्ध प्रभु,, नित्यबोधनी जिनवाणी माँ और चैतन्यामृत में सराबोर, सिद्ध सादृश्य, झपट के (शीघ्र ही) केवलज्ञान लेने की तैयारी वाले गुरुवर धन्य हैं, धन्य हैं। धन्य है वह ध्येय, धन्य है वह साध्य और धन्य हैं वे साधक," इनकी जितनी महिमा की जावे वह कम ही है। ऐसे ज्ञान–वैराग्य वर्धक विचारों से पूज्य सूर्यमित्र मुनिराज का ज्ञान–वैराग्य और अधिक पुष्ट होता गया।

हस्तरेखा समान हेय, ज्ञेय एवं उपादेय वस्तुओं के सम्यग्ज्ञान के प्रभाव से, तथा द्वादश प्रकार के संयम को पालने मैं तत्पर एवं जिनशासन में कहे गये व्रतों को निर्दोष पालने में और तपों को तपने में सतत् प्रयत्न परायण ऐसे श्री सूर्यमित्र मुनिराज, इन्द्र, नरेन्द्र और नागेन्द्रों से वंदनीय हो गये। "सम्यग्ज्ञानादि अनेक गुणों की वृद्धि से तीन लोक मैं जिनकी कीर्ति विस्तीर्ण हो गई है, और जो रत्नत्रय में परमोत्कृष्ट हो गये हैं ऐसे श्री सूर्यमित्र तपोधन स्वरूप विश्रांतिरूप तप में संलग्न हो गये।

इसलिए हे भव्यजीवो ! अपने हित के लिये आदर पूर्वक सकल शास्त्रों का अध्ययन कर सम्यग्ज्ञान का लाभ लेना चाहिए और शिवसुख दायक सम्यग्चारित्र से अपने जीवन को सजा लेना चाहिए, क्योंकि ज्ञानी पुरुष ही ज्ञान का आश्रय लेते हैं और ज्ञान में ही (आत्मा में ही) ज्ञान के प्रतिष्ठित होने से शिवरमणी के मुखारबिंद (सिद्धदशा) का अबलोकन करते हैं। तीनलोक में ज्ञाननेत्र के समान और कोई मार्गदृष्टा नहीं है।

ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारण।
इह परमामृत जन्म, जरा मृत रोगनिवारण।।

ज्ञान ही समस्त पदार्थों का ज्ञायक, और कर्मों का नाशक है एवं मोक्ष प्रदाता भी ज्ञान ही है। अतः मैं ने भी निरंतर ज्ञान में मन लगाया है इसलिये हे ज्ञान ! तूं मुझे ज्ञानी कर।

संत भव अंत दाता

बहिरभ्यन्तर परिग्रह छांड़, गुणसंयुक्त धारी अविकार।
सकल शिरोमणि तिहुंजग वंद, प्रणमूं अध्यापक गुणवृन्द।।

सदा चैतन्य विहारी श्री सुधर्माचार्य गुरुवर के साथ श्री सूर्यमित्र मुनिवर भी ग्राम, पुर, वन, अटवी आदि अनेक देश–देशान्तर में विहार कर, उन्हें पवित्र कर "पाद पड़े जहाँ तीरथ उत्तम, दृष्टि पड़े भव पारा" धर्मामृत का सिंचन कर, संतृप्त मानसों को शांति प्रदान करते हुए चम्पापुर नगरी में पधारे जो कि देवाधिदेव श्री वासुपूज्य भगवान की निर्वाणभूमि है, उसकी तीन प्रदक्षिणा देकर, स्तुति कर, नमस्कार करके निर्वाणभक्ति आदि पूज्य गुरुवर के साथ की। जिससे अन्तर के परिणामों की विशुद्धता का निमित्त पा अज्ञान अंधकार नाशक, लोक के मूर्तिक द्रव्यों का प्रकाशक उत्तम ऐसा अवधिज्ञान श्री सूर्यमित्र मुनिवर को स्वयमेव ही उदित हो उठा।

मुक्ति को पुरुस्कृत करने वाले, निर्वांछक, शांत परिणामी वीतरागी मुनिवरों को तप के प्रभाव से अवधिज्ञान आदि अनेक ऋद्धियाँ स्वयमेव ही प्रगट हो जातीं हैं। इसमें संशय को स्थान ही नहीं। "जैसे तीर्थंकर प्रभु का जन्म तीनलोक को आनन्द दायक होता है, वैसे ही स्वरूप विश्रांति रूप तप समस्त ऋद्धियों का दायक हो तो इसमें आश्चर्य भी क्या, ? कुछ भी नहीं, होता ही है।"

"ज्ञान–विज्ञान में परिपूर्ण, अनेक गुण रत्नाकर, रत्नत्रय की पवित्र विशुद्धता से युक्त है आत्मा जिनका, सकलसंघ के भार को वहन करने में समर्थ, महातपस्वी, महाध्यानी, निरतिचार पंचाचार के पालक, महाव्रती, पंचेन्द्रिय रूपी हाथी के मद को मर्दन करने में दक्ष, योगिगों में प्रधान, शांत–प्रशांत रस के रसिया, जीव मात्र के हित वांछक, भवभोगों स पराङ्मुख यतिवर श्री सूर्यमित्रजी को शिष्य मंडली में प्रधानजान, सम्पूर्ण संघ की साक्षी

पूर्वक आचार्यवर श्री सुधर्मास्वामी ने उन्हें आचार्यपद प्रदान किया।"

स्वयं शिवसुख की सिद्धि के अर्थ एकलविहारी हो घोरातिघोर उग्र तप करते हुए, इर्यापथ (चार हाथ भूमि निरख कर) पूर्वक अनेक वन–उपवन, देश, पुर, ग्रामादि में विहार करते हुए, ध्यानाध्ययन में लवलीन, निष्प्रमादी हो, जितेन्द्रिय, मौनव्रत धारक, उपसर्ग–परिषहों में धीर, सागरसम गंभीर, कर्मरिपुको चूरने में वीर श्री सुधर्माचार्य गुरुवर वाराणसी में पधारे।

वाराणसी के समीप सिंगपुरी–चंदपुरी भाग में जाकर प्रासुक निर्जन्तु भूमि पर आत्मध्यान पूर्वक योगधारण कर तिष्ठ गये। "आत्मध्यान में वृद्धिंगत होते हुए मुक्ति सोपानवत क्षपकश्रेणी में आरूढ़ हो, स्वरूप मंथर योगीराज ने आत्मगुणों के घातक चार घातिया कर्मों को निर्मूल कर नव केवल लब्धियों सहित जलहल दैदीप्यमान केवलज्ञान भानु प्रगट किया। वह केवलज्ञान शिवरमणी के मुख अबलोकन के लिये दर्पण समान है। सम्पूर्ण आत्मगुणों की पूर्ण प्राप्ति स्वरूप केवलज्ञान लक्ष्मी की इन्द्रादिक देवों ने आकर पूजा की। प्रभु तो सादि अनन्त काल के लिये आत्मस्थ हो गये, सो हो ही गये, वहाँ ही अंतिम शुक्लध्यान के द्वारा जड़ बिना के चार अघातिया कर्मों का निपात कर देहरहित हो समयमात्र में ऊर्ध्वगमन स्वभाव द्वारा निर्वाण को प्राप्त हुए।"

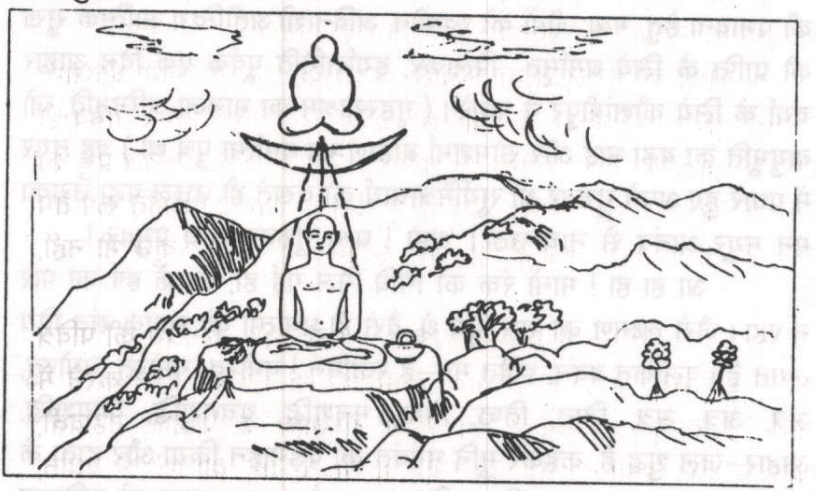

अविनाशी अविकार परम, रस धाम हो,
समाधान सर्वज्ञ सहज अभिराम हो।

शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध अनादि अनन्त हो,
जगत शिरोमणि सिद्ध सदा जयवन्त हो।।
बिन कर्म, परम विशुद्ध, जन्म, जरा, मरण से हीन है।
ज्ञानादि चार स्वभावमय अक्षय अछेद अछीन है।।
निर्बाध अनुपम अरु अतीन्द्रिय, पुण्य पाप विहीन है।
निश्चल निरालम्बन, अमर पुनरागमन से हीन है।।
दुख सुख नहीं पीड़ा जहाँ नहीं और बाधा है नहीं।
नहीं जन्म है, नहीं मरण है, निर्वाण जानों रे वहीं।।
इन्द्रिय जहाँ नहिं, मोह नहीं, उपसर्ग, विस्मय भी नहीं।
निद्रा, क्षुधा, तृषा नहीं, निर्वाण जानो रे वहीं।।
रे कर्म नहीं, नोकर्म, चिंता, आर्त-रौद्र जहाँ नहीं।
है धर्म-शुक्ल ध्यान नहीं, निर्वाण जानो रे वहीं।।
दृग, ज्ञान केवल, सौख्य केवल और केवल वीर्यता।
होते उन्हें सप्रदेशता, अस्तित्व, मूर्ति विहीनता।।
निर्वाण ही तो सिद्ध है, है सिद्ध ही निर्वाण रे।
हो कर्म से प्रविमुक्त आत्मा पहुँचता लोकान्त रे।।

अशरीरीदशा के साधक, संघ के नायक श्री सूर्यमित्र आचार्य धर्म की प्रभावना हेतु, भव्य जीवों को स्वाधीन, अविनाशी अतीन्द्रिय आत्मिक सुख की प्राप्ति के लिये धर्मामृत पिलाकर, इर्यासमिति पूर्वक एक दिन आहार चर्या के लिये कौशांबीपुर में पधारे। (गृहस्थाश्रम का भानजा अग्निभूति, जो वायुभूति का बड़ा भाई और सोमशर्मा ब्राह्मण का धर्मात्मा पुत्र था) वह नगर में पधारे हुए अपने गुरुवर श्री सूर्यमित्राचार्य को देखते ही उछल पड़ा उसका मन मयूर आनंद से नाच उठा। 'अहो ! धन्य गुरुवर, धन्य प्रभुवर !

आ हा हा ! मानों रंक को निधि मिल गई हो, उसके हर्ष का पार न रहा। जैसे लक्ष्मण को राम प्रिय थे, वैसे ही धर्मात्मा को साधक संत प्रिय लगते हैं। पुलकित बदन, हर्षित मन–हे स्वामिन् ! नमोस्तु, नमोस्तु, नमोस्तु, अत्र, अत्र, अत्र, तिष्ठ, तिष्ठ, तिष्ठ, मनशुद्धि, वचनशुद्धि, कायशुद्धि, आहार–जल शुद्ध है, कहकर मुनि भगवंत का पड़गाहन किया और दाता के सात गुणों से युक्त नवधाभक्ति सहित शुद्ध एवं प्रासुक आहार जो मुनिराज के ध्यान, ज्ञानादि का हेतु हो, ऐसा आहार दान दिया।'

आहार लेकर मुनीश्वर तो आत्मध्यान हेतु वापस वन की ओर चल दिये साथ में अग्निभूति एवं नगरवासी भी चल रहे हैं। अग्निभूति के पैर चल तो रहें है गुरुवर के साथ लेकिन मन मयूर तो साक्षात् कल्पवृक्ष और चिंतामणि स्वरूप गुरुवर का लाभ प्राप्त कर कोई अलौकिक दुनियाँ में विचर रहा है। 'जाने साक्षात् सिद्ध भगवान ही उसके आंगन में पधारे हों।' एक ओर इतना हर्ष, दूसरी ओर वायुभूति के पाप भावों का खेद।

वायुभूति को धर्ममार्ग में लगाने हेतु वह रास्ते में ही आचार्यदेव के चरणों में नतमस्तक हो प्रार्थना करने लगा– हे प्रभो ! आप तो तीनलोक के हितकारी हो, अपराधियों को क्षमादान देने वाले हो। प्रभु ! आप वायुभूति के गृह की ओर से वन के लिये पधारें तो महान उपकार होगा। उसे भी संबोधकर पापों से छुड़ाईए प्रभुवर !

आचार्यदेव वायुभूति के भावों के पहले से ही ज्ञाता थे तथा उन्हें आत्म साधना के अलाबा समय ही नहीं है। इसलिए आचार्यदेव ने कहा हे अग्निभूति! वायुभूति के पास जाना योग्य नहीं है, क्योंकि; वह स्वभाव से रौद्रपरिणामी है और मुझे देखते ही वह महा निंदनीय कर्मों का संचय करेगा, उस पाप का फल वह जीव चिरकाल तक दुर्गतियों में भ्रमते हुए महादुःख भोगेगा।

मुनिराज तो स्वयं अकषाय स्वरूप हैं और वे किसी की कषाय में निमित्त भी नहीं बनना चाहते।

श्रीगुरु के वचन सुन अग्निभूति ने भाई के रागवश पुन: अनुनय

विनय पूर्वक निवेदन किया कि– हे प्रभु ! यदि उसकी होनहार अच्छी होगी तो वह भी पलट जावेगा; परंतु मुनिराज गृहस्थ के घर तो मात्र आहार लेने हेतु ही पधारते हैं, अन्य कारण तो वे गृहस्थों से वचनालाप भी नहीं करते, तो फिर घर जाना तो असंभव ही है।

आचार्य महाराज जिस रास्ते से वन की ओर जा रहे थे, अचानक वायुभूति भी वहीं मिल गया और योगानुयोग से वायुभूति की नजर भी मुनिराज पर पड़ गई, उन्हें देखते ही पापी वायुभूति के कोप का ठिकाना न रहा। मुनिराज को सूर्यमित्र जानकर क्रोधोदय से कटुक, दुर्वचनों द्वारा मुनिनिंदा करते हुए बोला, हे सूर्यमित्र ! पहले से ही तूं कृपण, दुष्ट, महान कुटिल परिणामी था, तूंने हम दोनों भाईयों को घर–घर भीख मंगवाई थी, अब तूं भी उसी पापोदयवश नग्न हो गया, पहनने को वस्त्र भी नहीं रहे और न ही खाने को भोज्य सामग्री। हमसे भीख मंगवाई थी तो तुझे भी उसके परिणाम स्वरूप भीख मांगनी पड़ रही है, सो योग्य ही हुआ है। जो दूसरों के प्रति जैसे भाव करता है, उसे भी वही दशा भोगनी पड़ती है। इस तरह निंदा के भावों से वायुभूति ने तिर्यंच गति का कारण अशुभ पापकर्म का बंध कर लिया।

इससे स्पष्ट पता चलता है कि जिसकी जैसी शुभाशुभ होनहार होती है, उसे वैसे ही निमित्त मिल जाते हैं, उसके भाव भी वैसे ही होते हैं, उन्हें कोई पलट नहीं सकता। "जो होना है सो निश्चित है, केवलज्ञानी ने गाया है"। समताभाव में मंथर,उत्तम क्षमादि गुणों के धारक, साम्यभाव की वृद्धि हेतु वायुभूतिकृत आक्रोश परिषह पर जय प्राप्त करते हुए मुनिराज वन की ओर गमन कर गये।

परंतु अग्निभूति अफशोस कर रहा है–मुनि की निंदा, अरे गुरुवर तो शांत थे, उनने तो कुछ कहा ही नहीं था फिर भी वायुभूति ने निंदा क्यों की ? किसी को कुछ नहीं कहने पर भी जो निंदवचन कहता है वह तो लोक में भी महा अपराधी कहलाता है। मुझे तो बड़ा.....

श्री गुरु मधुर शब्दों द्वारा संबोधते हैं–हे सत्पुरुष ! दुर्जनों का स्वभाव ही ऐसा होता है। वे दीर्घ संसारी होते हैं इसलिए उन्हें सद्बुद्धि उत्पन्न ही नहीं होती। परन्तु "वे भी भूले हुए भगवान हैं । वे भ. स्वभाव से तो अभी भगवान हैं, उनकी एक समय की भूल को मत देखो।"

फिर भी धर्मात्मा अग्निभूति, मुनिनिंदा मेरे ही कारण हुई है, इस तरह

अपराधबोध महशूस करने लगा। जगत में अनेक प्रकार के जीव हैं, उनकी अनेक प्रकार की लब्धियाँ और अनेक प्रकार के कर्मों के उदय हैं, यह जान अग्निभूति को संसार के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हो गया।

इस वायुभूति ने वृथा ही मुनि निंदा कर दुर्गतियों को निमंत्रण दिया। अग्निभूति बारम्बार अपने को संबोधता था फिर भी गृहस्थ भूमिका होने से धर्म और धर्मात्मा की निंदा सहन करने में असमर्थ हो पुनः सोचने लगा कि कृत, कारित, अनुमोदना समान ही हैं। मैं ने ही मुनिराज से आग्रह किया था, इसलिये मैं ही निंदा का भागी हुआ। अतः इस पाप की शुद्धि के लिये मैं भी बंदीगृह समान इस घर को और शत्रु समान भाई को त्याग कर संयम ग्रहण करता हूँ। ऐसे भाई से मुझे क्या प्रयोजन, जो वीतरागी गुरुओं की निंदा करे ? तथा इस घर और कुटुम्बी जनों से भी क्या कार्य सिद्ध होने वाला है। ये सब मेरे लिये पाप संचय में निमित्त हैं। "श्री अरंहत देव, साम्य भाव धारक निर्ग्रन्थ गुरु और अरंहत देव द्वारा प्ररूपित धर्म, – इन तीन की भक्ति समान अन्य कोई स्वर्ग मुक्ति दायक महान नहीं है और इनकी निंदा के समान नरक, निगोद दायक अन्य कोई पाप नहीं है।"

अहो वायुभूति कृत मुनिनिंदा, अग्निभूति के लिये मोक्षमार्ग का वरदान बन गई। भवभय से डरा हुआ अग्निभूति विचारने लगा–

भवभोग पराङ्मुख हे यते, पदमिदं भवहेतु विनाशनम्।
भज निजात्म निमग्नमते पुनस्तव किमध्रुववस्तुनि चिन्तया।।

निज आत्मा में लीन बुद्धि वाले तथा भव से और भोंगों से पराङ्मुख हुए हे यति ! तू भवहेतु का विनाश करने वाले ऐसे इस (ध्रुव) पद को भज, अध्रुव वस्तु की चिन्ता से तुझे क्या प्रयोजन है ? इसप्रकार के भावों से युक्त अग्निभूति पूज्य गुरुवर से प्रार्थना करने लगा। प्रभो ! मेरा चित्त इस संसार की विचित्रता देख अब एक क्षण भी संसार में नहीं रहना चाहता है, आप का परमसुखदाई मार्ग लख उसे प्राप्त करने के लिये ललक रहा है, इसलिए हे गुरुवर ! आप के चरणों की शरण दे अनुगृहीत कीजिये।

पूज्य गुरुवर ने उसे जिनदीक्षा का पात्र जान आगमानुसार विधि–पूर्वक पारमेश्वरी दीक्षा प्रदान की।

अग्निभूति ने भी गुरु आज्ञा शिरोधार्य कर मन,वचन,काय, से चौबीस प्रकार के परिग्रहों को छोड़कर, देवों को भी दुर्लभ, महा आनन्द दायक,

कर्मनाशक ऐसा संयम अंगीकार कर लिया। "अहो ! वह पाप भी भला है जिसे पा ज्ञानवान पुरुष संवेग धारण कर मोहशत्रु के घातक ऐसे महान तप को प्राप्त होते हैं।"

अग्निभूति के दीक्षित हो जाने से उसकी पत्नी सोमदत्ता अपने पति के वियोग से शोकमग्न दुःखभरी मुद्रा में वायुभूति के पास जाकर शोक की शान्ति के लिये वायुभूति से कहने लगी–हे वायुभूति ! आपने अपने दुष्ट परिणामों से मुनिराज की निंदा की, यह कारण पा आपके भाई को वैराग्य हो जाने से मुनि हो गये हैं, यह किसी को पता चलने के पहले ही अपन दोनों चलकर उन्हें समझा बुझाकर वापस घर ले आवें, इसलिये आप मेरे साथ चलिये। यदि देर करेंगे तो फिर आपके भाई को वापस लाना मुश्किल होगा।

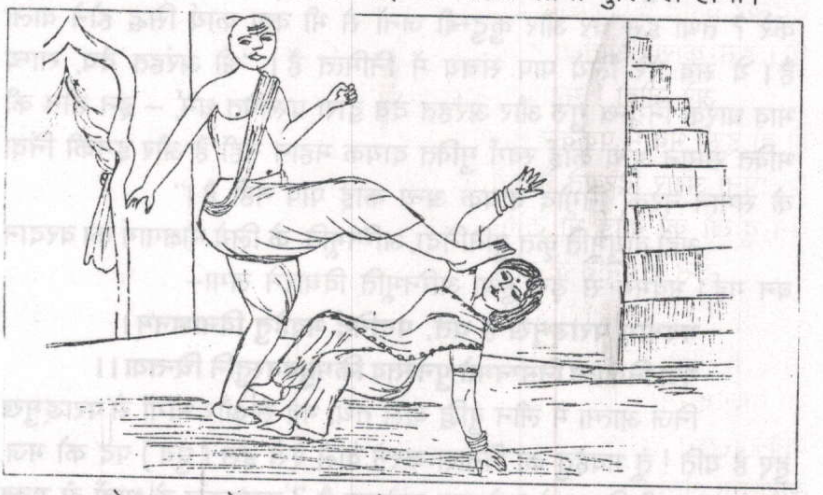

सोमदत्ता के वचन सुनते ही वायुभूति क्रोधायमान हो उठा। क्रोधांध वायुभूति कुपित हो अपनी भाभी, जो कि माता तुल्य होती है, उस के मुख पर लात मार दी।

वायुभूति द्वारा लात की मार से स्व–पर घातक ऐसे क्रोध में आकर सोमदत्ता ने पापकर्म का कारण जगत निंद्य ऐसा निदान किया, अरे दुराचारी! अभी तो मैं अबला हूँ, निर्बल हूँ, लौटकर तेरे मुख पर लात मारने में असमर्थ हूँ। परन्तु अन्य भव में मैं ऐसी होऊँगी कि वहाँ तेरे पैरों के टुकडे टुकड़े करके खाऊंगी।

बड़े ही खेद की बात है कि अज्ञानी पापी जीव क्रोधांध हो अपना

और पराया किसी का कुछ भी हित–अहित नहीं देखता। दूसरों का अहित तो उसके पाप के उदय में होगा तो होगा, यदि उसका पुण्य का उदय हुआ तो कुछ भी करते रहो उसका बाल भी बांका नहीं होता, परन्तु अहित करने के भावों से स्वयं तो वर्तमान में ही दुःख भोगता है और भविष्य में भी दुःख ही भोगेगा। इसलिये धर्मबुद्धि धारक ज्ञानी पुरुषों को दोनों लोकों का बिगाड़नें वाला, धर्म का नाशक, ऐसे शत्रु समान क्रोध को क्षमादि भावों के द्वारा जीत लेना ही श्रेष्ठ है।

मुनिनिंदा के परिणाम हैं प्रधान जिसमें ऐसे अनेक प्रकार के पाप के उदय से वायुभूति को सातवें ही दिन शरीर में महाघोर दुःखों से भरपूर उदम्बर जाति का कुष्ठरोग हो गया, जिसकी व्याधिजनक पीड़ा असहनीय थी। इस कारण आर्तध्यान से मरकर वह दुर्गति में गया।

अरे जीवो ! महापाप भावों से पापकर्म बंधते हैं, जिनमें से कितने ही तो इसी भव में पककर नाना दुःख रूप फलते हैं और कितने ही परलोक में अपना असर दिखाते हैं, जो कि नरकादि रूप दुःखों में निमित्त होते हैं। उन दुःखों को कोई भी कहने में समर्थ नहीं है।

उस वायुभूति के जीव ने आर्तध्यान से प्राण तजे थे, इस कारण वह उस ही कौशांबी में गधी हुई। अरहन्तदेव, निर्ग्रन्थ गुरु और दयामय धर्म की निंदा से जीव, भूत, वर्तमान और भावि तीनों कालों के पुण्य कर्म और सुखों का नाश करता है। इसलिये यह जानकर भव्य जीवों को सदा अपने परिणाम पवित्र रखने चाहिये। मन, वचन और काय से देव, शास्त्र और गुरु की आराधना और निजात्मा की आराधना पूर्वक ही प्राणों का विसर्जन हो, वही श्रेष्ठ है।

वह गधी पापोदय से सैकड़ों क्लेशों का दुःख, भूख, प्यास, शीत, उष्ण, आदि की तीव्र वेदना, लोगों द्वारा पद–पद पर लकड़ी एवं पत्थरों की मार के दुःख, नासिका छेदन, अतिभार वहन आदि दुःख भोगती हुई अल्प आयु में ही मर कर उसी कौशांबी में ही गधी से भी हीन पर्याय सुअरनी को प्राप्त हुई। वहाँ भी उसने तिर्यंचगति जन्य अगणित दुःख सहे।

स्वामी रहित पशुओं का कोई रक्षक न होने से उनके दुःखों का तो कोई ठिकाना ही नहीं रहता। बेचारे मूक प्राणी भोगते हैं और केवली परमात्मा जानते हैं।

मारन, ताड़न आदि दुःखों से पीड़ित हो महाकष्टों सहित प्राण छोड़कर वह सुअरनी चम्पापुरी में चांडाल के बाड़े में कुत्ती हुई। जो महाघोर दुःखों से व्याकुल है और विकराल अर्थात् महा भंयकर मुख है और अत्यन्त क्रूर परिणामी है, उसी चांडाल के बाड़े में ही भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी के दुःख और लोगों द्वारा सताये जाने के दुःखों से अति कष्टों से प्राण छोड़कर उस ही कौशांबी में एक चांड़ालनी से जन्मांध चुहड़ी नाम की पुत्री उत्पन्न हुई।

जब वह कुछ बड़ी हुई तो उसके माता पिता ने उसे जंगल में छोड़ दिया। अब वह महा कष्टों के साथ जीवन बिता रही थी। कैसा पाप का उदय! जिसे सुनते ही हृदय भय से कांप उठता है। उसका शरीर भी अत्यन्त दुर्गंधयुक्त, दुःखों से भरा, जन्मांध और महाविकराल रूप।

अब कुछ पुण्य कर्म अपना दर्श दिखायेगा। उसी समय विहार करते हुए श्री सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिवर जहाँ वायुभूति का जीव, जन्मांध, चांड़ालनी की पुत्री चूहड़ी के रूप में जन्मा था, उसी नगर के जंगल में पधारे। श्री सूर्यमित्र मुनिवर का उपवास होने से वे आत्मस्थ हो वन में ही ठहर गये और श्री अग्निभूति मुनिवर आहारचर्या के निमित्त नगर की ओर आ रहे थे, बीच में जंगल होने से बहुत से वृक्ष थे, उन्हीं वृक्षों के नीचे दुःख से पीड़ित वह जन्मांध चूहड़ी बैठी थी । उसे देख मुनिराज का हृदय कुछ करुणाद्र हो गया, उस समय भवांतर के स्नेहवश तथा वर्तमान में दुःखों का समूह जिस पर टूट पड़ा हो, ऐसा विचार कर मुनिराज अग्निभूति को उस पर निस्कारण करुणा आ गई। अग्निभूति मुनिराज आहार के लिये नगर में न जाकर वापस ही अपने गुरु के समीप जाकर उस बालिका का स्वरुप और अपने मन में उत्पन्न हुआ खेद व करुणा का कारण विनय सहित पूछने लगे।

तीन ज्ञान के धारी पूज्य श्री सूर्यमित्र मुनिराज ने कहा, हे धीमान्! तेरा ही भाई वायुभूति का वह जीव है उसने मुनिधर्म की निंदा की थी, उसी के फल स्वरूप वह लोकनिंद्य ऐसी तिर्यंच पर्यायों में निरन्तर महादुःख भोगता हुआ अब यहाँ जन्मांध चांड़ाली के रूप में आया है। इसलिये पूर्वभव के संबंध व स्नेह के कारण आप को खेद आदि हुआ है। प्राणियों को भव–भव का स्नेह व बैर पूर्व संबंध से होता है।

हे अग्निभूते ! उस बालिका के कल्याण का काल अति ही निकट

है ,उसकी आज ही मृत्यु होने वाली है, इसलिए आप शीघ्र जाकर धर्मपूर्ण वचनों से संबोधकर, उसे श्रावक के व्रत पूर्वक संन्यास धारण कराओ।

गुरुवर के वचन सुनकर परमोपकारी अग्निभूति मुनिराज जहाँ वह बालिका बैठी हुई थी वापस वहाँ पर ही पहुँचे और उसे इस प्रकार सम्बोधन करने लगे, "हे पुत्री ! तूं पापकर्म के उदय में अनेकों दुःखों को भोगती हुई इस चांड़ाली पर्याय में उत्पन्न हुई है अब पाप कर्म की शान्ति के लिये और सुख प्राप्ति के लिये श्रावक धर्म को अंगीकार कर। तथा मेरे कहे अनुसार मद्य,मांस, मधु और पंच उदुम्बर फलों का त्याग कर, खाद्य,स्वाद्य, लेय और पेय इन चार प्रकार के आहार का त्याग करके और किसी प्राणी की हिंसा नहीं करना, झूठ नहीं बोलना, किसी की वस्तु नहीं चुराना, किसी पर बुरी निगाह नहीं ड़ालना और बहुत परिग्रह नहीं जोड़ना ये पाँच अणुव्रत हैं, इन्हें तथा तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत पूर्वक समाधिमरण अंगीकार कर, क्योंकि तेरी आयु आज ही पूरी होने वाली है। इन व्रतों से तुझे सुख प्राप्त होगा।"

लोक में कहावत है "भाग्यवान के भाग्य से भूत कमाते हैं" उस चांड़ाली बालिका की होनहार अच्छी आई तो उसे उत्कृष्ट निमित्त मुनिराज भी मिल गये और उसकी मति भी कुशल हो जाने से मुनिराज के वचनों पर विश्वास कर उन व्रतों को ग्रहण कर लिया,उस बालिका ने मुनिराज द्वारा ग्रहण कराये गये व्रतों को ग्रहण कर, चार प्रकार के आहार का त्याग किया और अनशन

पूर्वक श्रावक धर्म को अंगीकार करके सन्यास ग्रहण कर लिया। यह कथा सूर्यमित्र मुनिराज ने राजा चन्द्रवाहन से कही।

हे राजन् ! जब उस बालिका ने सन्यास धारा था उस समय इस नागशर्मा ब्राह्मण की पत्नी त्रिदेवी, पुत्री की प्राप्ति की भावना से नाग देवता को पूजने के लिये उसी रास्ते से जा रही थी, तब उस बालिका ने पास से ही निकलने वाली त्रिदेवी और उसके साथ बजने वाले बाजों की आवाज सुनकर तथा कुछ महिलाओं द्वारा की जाने वालीं इस प्रकार की बातें "भगवान इसे पुत्री दे देना, भावना सफल कर देना" यह सुनकर उसने निदान किया कि मैं व्रत और संन्यास के फल में इस त्रिदेवी की ही उत्तम पुत्री होऊँ। मैं इसके सिवा और कोई शुभगति नहीं चाहती।

जैसे कोई दुर्बुद्धि अज्ञानी मूर्ख रत्न के बदले कांच, हाथी के बदले गधा और स्वर्ण देकर लोहा ले, वैसे ही इस ज्ञानहीन, जन्मांध बालिका ने स्वर्ग सम्पदा के कारण भूत जो व्रत और संन्यास था, उसके फल रूप में सामान्य पुण्यकर्म रूपी स्त्री पर्याय की याचना हर्ष पूर्वक की। जैसे कोई दरिद्र को चिन्तामणि हाथ लग जावे और वह उसे सुईपिरोना समझे तो उसकी मूर्खता का क्या कहना ?

निदान के फल में वह चांड़ाली यहाँ नागश्री के रूप में उत्पन्न हुई। पूर्व संस्कारों के कारण से वह आज ब्राह्मण कन्याओं के साथ नाग पूजने आई थी, नागपूजा से निवृत्त हो हमारे पास आकर नमस्कार कर यहाँ बैठ गई। तब हम दोनों (सूर्यमित्र और अग्निभूति मुनिराज) ने उसकी अच्छी होनहार जानकर उसे सम्यक्त्व सहित श्रावक के व्रत ग्रहण कराये।

हे राजन् ! साधु का निंदक वायुभूति का जीव पाप कर्म के उदय से दुःखदायी तिर्यंचगति की चार पर्यायों व एक चांड़ाली की पर्याय को भोगकर यहाँ नागश्री हुआ है। पापकर्म से जीव दुर्गति में भ्रमण करता है। पुण्यकर्म से शुभगति पाता है और मध्यस्थ परिणामों से मनुष्य गति पाता है। धर्मात्मा जीव धर्म के फल में इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती आदि पदों को पाकर, सुख भोगकर, मोक्ष को प्राप्त करता है।

तीन लोक में सारभूत–पारमार्थिक अतीन्द्रिय सुख मात्र धर्मात्मा ही पाते हैं। पापी जीव अनेक प्रकार के दुःखसमूहों को प्राप्त करते हैं। वे दूसरों के दास होते हैं, घर–घर भीख मांगते हैं और अनेक प्रकार की आधी,

व्याधी आदि सहते हैं। तीन लोक में दुर्लभ अथवा ऐसी वस्तुयें जो दूर देशों में ही होतीं हैं, धर्मात्मा को धर्म के फल में स्वयं ही आकर मिलती हैं। पापी के पाप के उदय में हाथ की वस्तु भी चली जाती है। यही मूर्खता वायुभूति के जीव ने भी की थी। "दरवाजे पर पधारे सिद्धसमान गुरु की अवहेलना, मणिरत्न जैसा धर्म व हीरे जैसा यह मनुष्य भव यों ही खो दिया। बहती गंगा में हाथ न धोये तो पीछे पछताना ही पड़ता है।"

(हे भव्य ! मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक अपने हित का इच्छुक बन, समस्त पापों को छोड़कर स्वर्ग–मोक्ष प्राप्ति के लिये जिनेन्द्रदेव कथित परमधर्म का सदा सेवन करना। मैं भी अपुर्नभव के लिये सदा धर्म का सेवन करता हूँ और धर्म से ही अनुपम आत्मीक धर्म का आचरण होता है। इसलिये हे धर्म ! तूं मेरे सम्पूर्ण संसार दुःखों को दूर कर, –ऐसी भावना सदा भा।)

वैराग्य का मौसम

श्रीमत् तीन भुवन के ईश, गुणसागर प्रणमूं नत शीश।
पंच परमगुरु शिवसुख देत, जिनमंदिर जिनबिम्ब समेत।।

सूर्य के समान है ज्ञान का प्रकाश जिनके और जगत के जीवों के हितकर, सुखकर और प्रिय होने से जो अकारण मित्र हैं, ऐसे श्री सूर्यमित्र मुनिराज के मुखारबिंद से घोर दुःखों के उपशमन का उपाय जानकर और कुछ पुण्य उदय वश पाई है मनुष्य पर्याय ऐसी नागश्री के भवांतर सुनकर राजा चन्द्रवाहन सहित समस्त ब्राह्मण, पुरजन और परिजन एवं नागश्री आदि का मन संसार, देह, भोगों से उदास हो वैराग्य रस में सराबोर हो गया। वे सभी धर्म का अद्भुत महात्म्य जान चिंतवन करने लगे।

अहो ! इस लोक में जिनेन्द्र देव का कहा हुआ 'दयामयी जैनधर्म ही महान् है, आराधने योग्य है, सुख का कारण है। मूर्ख मिथ्यादृष्टियों द्वारा कल्पित, जीवों का घातक, यज्ञादि धर्म संसार भ्रमण का कारण है, अतः छोड़ने योग्य ही है।

'भुक्ती मुक्ती दातार' भुक्ति अर्थात् इन्द्रिय भोगों के त्यागरूप जो वैराग्य भाव का अनुभव और मुक्ति अर्थात् समस्त कर्मों का क्षय है निमित्त जिसमें ऐसा शुद्धात्मा का पूर्ण लाभ रूप परम निर्वाण और अठारह दोषों से रहित, छयालीस गुणों से सहित वीतराग सर्वज्ञ देव ही महान देव हैं, अन्य

नहीं। ये ही मुक्ति के दाता अर्थात् असाधरण निमित्त हैं।

वीतराग सर्वज्ञ भगवान द्वारा प्ररूपित द्वादशांग वाणी ही धर्म का मूल एवं सच्चा आगम (शास्त्र) है, जो सर्वज्ञता से शून्य हैं, वे आप्त के अभिमान से दग्ध हैं। एकान्त के पक्षग्राही अज्ञानी पुरुषों द्वारा कल्पित वेदादि महापाप के मूल हैं और असत्य हैं।

पूज्य गुरुवर कृत उपकार से नम्रीभूत हो पुनः पुनः उनके अनेक प्रकार से गुणानुवाद कर रहे हैं।

विषयसुखविरक्ताः शुद्धतत्वानुरक्ताः
तपसि निरतचित्ताः शास्त्र संधातमत्ताः।
गुणमणिगणयुक्ताः सर्वसंकल्पमुक्ताः
कथममृतवधूटीवल्लभा न स्युरेते ।।

जो विषय सुख से विरक्त हैं, शुद्ध आत्म तत्त्व में अनुरक्त हैं, तप में लीन जिनका चित्त है, शास्त्रसमूह में जो मत्त (मस्त) हैं, गुणरूपी मणियों के समुदाय से युक्त हैं और सर्व संकल्पों से मुक्त हैं, वे मुक्ति सुन्दरी के वल्लभ क्यों न होंगे ? अवश्य ही होंगे।

लोकालोक के परोक्ष ज्ञायक, अभीक्षणज्ञानोपयोगी, बिना कारण जगत के बांधव श्री निर्ग्रन्थ जैन यति ही परम पूज्य गुरु हैं। पंचेन्द्रिय के विषयों से आकुलित मूर्ख, मिथ्यादृष्टि कभी भी गुरु नहीं होते। वे तो पत्थर की नाव के समान भारी, संसार समुद्र में डूबने और डुबोने वाले होते हैं।

त्रिलोक और त्रिकालवर्ती समस्त वस्तु स्वरूप का प्रकाशक, दीपक के समान सम्यक्ज्ञान निर्ग्रन्थ योगीश्वरों को ही होता है, वैसा ज्ञान मिथ्यादृष्यिों को कभी स्वप्न में भी नहीं हो सकता। जैसे कोई मूर्ख हलाहल जहर भक्षण कर दीर्घ काल तक जीना चाहे, वैसे ही कुमार्गी मिथ्यादृष्टि, जीवघात करके कल्याण चाहता है। जैसे कोई अज्ञानी कंठ में पुष्पमाला के भ्रम से सर्प को धारण करता है, वैसे ही कुमार्गी मूर्ख यज्ञ में जीववध आदि को धर्म मान आचरण करता है। जैसे मदिरा घट को बाहर से अनेक बार धोये जाने पर भी अन्दर की दुर्गन्ध नहीं जाती। वैसे ही अन्तर में मिथ्यात्व, कषाय आदि मल से व्याप्त मिथ्यादृष्टि बाह्य में स्नानादि कर शुद्धि मानता है, परन्तु अन्दर की अशुद्धि नहीं जाती। फिर भले ही वह गंगा–जमना आदि में स्नान करे, उससे तो मात्र कुछ समय के लिये शरीर का मल ही धुलता है, अन्तरंग

कषायमल नहीं। यह सब कल्पनायें मृगजलवत् हैं, वे मानुष जीवन रूपी रत्न को व्यर्थ ही गवांते हैं, केवल घोर पापों का बंध करते हैं । आत्मा की शुद्धि तो मिथ्यात्व–कषाय मल के अभाव से होती है। मैं ने भी कुबुद्धि से कुमार्ग में इतना जीवन व्यर्थ ही गमाया। विवेक जागृत होते ही भूतकाल का मात्र पश्चाताप ही रह जाता हैं, बीता हुआ समय वापस नहीं आता।

कुबुद्धि को विड़ार, सुबुद्धि को उद्योत भयो।
भले दिन पाय जैनधर्म उर परिनयो।।

आज ही मैं पुण्यवान हुआ, आज ही मैं धन्य हुआ, जिससे जैनाचार्य पूज्य श्री सूर्यमित्र महाराज के प्रसाद से अनादि का भूला हुआ महा अमौलिक यह जैनधर्म मुझे प्राप्त हुआ। इत्यादि अनेक प्रकार के चिन्तन से वृद्धिगंत होता हुआ संवेग–निर्वेग भावों सहित तथा परमोपकारी श्री सूर्यमित्र मुनिराज के वचनों का अमृतपान करके, बाह्य–अभ्यन्तर चौबीसों परिग्रह (जिसमें मिथ्यात्व रूपी हलाहल जहर भी समाहित है, उन्हें) त्याग कर नागशर्मा पुरोहित ने मोक्षसुखदायनी पारमेश्वरी भगवती जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। उस समय बहुत से ब्राह्मण भी जैनधर्म की अद्भूत महिमा जानकर संसार, देह, भोगों से विरक्त हो दीक्षित हो गये।

नागश्री भी अपने अनाचार एवं पाप भावों से प्राप्त भवान्तर के दुःखों को सुनकर उनसे भयभीत हो संवेगरूप आभूषण को धारण कर, मात्र एक सफेद साड़ी के अलाबा समस्त परिग्रह त्याग कर बालपने में ही अति प्रवीण

आर्यिका हो गई। उसी समय नागश्री की माँ त्रिदेवी भी अनेक ब्राह्मणियों के साथ मोहरूपी बैरी का नाश करके स्वर्ग–मोक्ष दायक, (मात्र १६ हाथ की सफेद साड़ी के अलाबा) सकल परिग्रह रहित दीक्षा धारण कर आर्यिका बन गई।

चम्पापुरी के राजा चन्द्रवाहन ने भी नागश्री की कथा सुनकर विषय भोगों से उदास हो, अपने पुत्र लोकपाल को राज्य तिलक कर, बहुत–से भव्य जीवों एवं रानियों सहित वैराग्य को प्राप्त कर, माता के समान रक्षक जिन दीक्षा हर्ष से धारण कर ली। और भी पुरवासियों में से अनेकों ने किसी ने आनन्द दायक सम्यग्दर्शन सहित महाव्रत, अणुव्रत धारण किये और किन्हीं ने सम्यग्दर्शन प्राप्त किया और कितनों ने जैनधर्म में महान आस्था धारण की।

अहो ! 'सन्तों का पधारना, यानि धार्मिक कमाई का मौसम आना। सन्तों की अमृतमयी वाणी का खिरना मानो भव्यों की पात्रता का पाक होना। मनुष्य भव की जबानी का काल वास्तव में धर्म की कमाई का मंगल अवसर है।' जीवों की पात्रता पकती है तो निमित्त स्वतः सहज ही मिल जाते हैं, उन्हें लाना नहीं पड़ता।

(आ हा हा ..... कैसे होंगे वे गुरुजन ? कैसा होगा उनका शान्त प्रशान्त रस झरता वीतरागी दीदार ? कैसी होगी उनकी वाणी ? और कैसी होगी वह मुमुक्षु मंडली ? मात्र छोटी सी भोली भाली, भक्ति रस से सराबोर

हृदय वाली नागश्री का बहाना मिला कि मोक्ष के पिपासु उछल पड़े। धन्य है उनका पुरुषार्थ और धन्य है उनकी साधना। अहो ! चम्पापुरी में वीतरागता की सौरभ का रंग सब पर छा गया है। मानो जैसे वासुपूज्य भगवान का केवलज्ञान सबको कैवल्य प्राप्ति के लिये आह्वान कर रहा हो।)

हे सखा ! चलो हम सभी श्री आचार्यवर सूर्यमित्र महाराज के साथ अतीन्द्रिय आनन्द में केली करते हुए संयम की निर्दोषिता के लिये विहार करें। नवदीक्षित संत मण्डली ईर्या समिति पूर्वक विहार करती है। गुरुवर से अंग–पूर्वादि श्रुत का अभ्यास करते हैं। कर्मवन को दग्ध करने के लिये द्वादस प्रकार के घोर तपों को तपने में संलग्न होने से भव और भोग रूपी बैरी भी स्वतः शांत हो गये। निज स्वरूप के रसिया, पर्वत, वन, कोटर, गिरिगुफा, गिरि शिखर के बसिया। निर्जन गहन वन स्थानों में ध्यान और अध्ययन की सिद्धि के लिये, प्रमाद रहित विहार करते हुए जहाँ कहीं वन–पर्वतादि स्थानों में सूर्य अस्त होने का समय आता कि–वहाँ ही प्रतिमायोग धारण कर ठहर जाते। रात्रि में विहार करने से जीवों की हिंसा होती है इसीलिये साधुजन जीव दया के लिये रात्रि में विहार नहीं करते। जिनके आर्त, रौद्र ध्यान तो अस्ताचल की ओर चले गये हैं, ऐसे मुनिराज सिद्धसम अचल हो कायोत्सर्ग पूर्वक धर्म–शुक्ल ध्यान को ध्याते हैं। जो सदा भव्यों को स्वाध्याय, ध्यान, षट् आवश्यक, गुरु उपासना आदि का धर्मोपदेश देते हैं। विकथायें तो उनके पास फटक भी नहीं पातीं हैं, ऐसे स्व–पर तारक गुरु, परम तपो निधि मोक्ष पथ में गमन कर रहे हैं।

वे मुनीश्वर सारभूत अट्ठाईस मूलगुण, चौरासी लाख उत्तरगुणों में से अधिकतर गुणों को, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल चारित्र को यत्नपूर्वक, मन, वचन, काय की एकता सहित निरतिचार पालते हैं। अशुभभावों की तो मानो उनके सत्ता ही नहीं, अनायतनों को देखने के लिये तो उनके नेत्र ही बंद हो गये और अरहन्त देव, वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरु, अरहन्तों के प्रतिबिम्ब, निर्वाणभूमियों आदि के अवलोकनार्थ नेत्र अच्छी तरह खुल गये हैं। ज्ञानी सदा गुणों के ग्राहक होते हैं, अतः ज्ञानी के ज्ञाननेत्र भी सहस्त्रता को प्राप्त हो जाते हैं, जबकि अज्ञानी के बन्द रहते हैं। कितनी आश्चर्यकारी भिन्नता है।

मुनिवर, निर्वाणधाम, कल्याणकों के धाम आदि तीर्थक्षेत्रों के तथा

गुरुवर दर्शनार्थ/शुभयात्रा के लिये गमन करते हैं, कुतीर्थों में जाने के लिये वे पंगु समान है। ज्ञानी, उत्तम पुरुषों के समीचीन ग्रन्थों के अध्ययन करने में, सैद्धांतिक जीवादि तत्वों के स्वरूप प्रतिपादन करने में सहस्त्र जिव्हायुक्त एवं उल्लसित वीर्यवंत होते है और वस्तु स्वरूप से विपरीत अशुभ वचनों के लिये गूंगे के समान रहते हैं। सर्वज्ञ कथित आगम और आत्मतत्वादि के बोधक धर्म वाक्यों के श्रवण करने में सदा तत्पर रहते हैं और मिथ्यात्व/संसार पोषक वचन सुनने के लिये बहरे के समान हो जाते हैं। यतीश्वर निन्दनीय कार्यों से विमुक्त, सदा ध्यान, अध्ययनादि कार्यों में ही प्रवर्तन करते हैं। पाप भावों से भी सदा भयभीत रहते हैं, मात्र मोक्ष के ही वांछक होते हैं। घोर उपसर्गों में भी सदा निर्भय रहते हैं, समस्त विकार रहित, परिषहों के विज़ेता महा धीर–वीर एवं गुणगंभीर होते हैं। उनके पाप भावों के अभाव में पाप बंध भी नहीं होता। मुनिराज स्वभाव साधना में तत्पर रहते हुए शुभाचरण से सहित होते हैं। बाह्य में शरीर में रहते हुए दिखने पर भी सदा देहातीत हैं।

हे गुरुवर ! आप ने मुनिवरों का अन्तरबाह्य स्वरूप बतलाते हुए उन्हें गूंगा, बहरा, पंगु, अंधा आदि कहा तो क्या उन्हें उन कार्यों के प्रति द्वेष वर्तता है ?

हे महाजन ! आप के प्रश्न से ही ज्ञात होता है कि अभी आप को काफी अध्ययन की आवश्यकता है। मुनिराज का जीवन तो ऐसा होता है–"अर्घावतारण असिप्रहारण में सदा समता धरण' अर्घ चढ़ाने वालों के प्रति कभी प्रमुदित नहीं होते और तलवार का प्रहार करने वालों पर कभी कुपित/रुष्ट नहीं होते, सभी परिस्थियों में समता के धारी होत हैं। उनकी चाल, ढ़ाल, श्वांस, प्रश्वांस और पूरा जीवन ही आत्मसाधनामय हो जाने से बाहर उपयोग ही नहीं जाता, कुछ उनके ख्याल में ही नहीं आता अर्थात् उनके उपयोग की जरा भी बरबादी नहीं होती। इसलिये उनकी ऐसी प्रवृत्तियों को इस प्रकार की व्यंगात्मक शैली में कहा गया है।

दुर्द्धर तपश्चरण से, अत्यन्त विशुद्ध भावों से, संयमाचरण से, धर्म शुक्लरूप ध्यानों के फल स्वरूप दीप्ति आदि सारभूत अनेक ऋद्धियाँ जिन्हें प्राप्त हुईं हैं, ऐसे परम तपोधन सूर्यमित्राचार्य अपनी धर्मामृत वर्षा से भव्य जीवों को धर्म में स्थापित करते हुए, तथा धर्म प्रभावना के लिये/तीर्थ की प्रवृत्ति के लिये विहार करते हुए एक दिन राजगृह नगर के विशाल वन में

पधारे, वहाँ भी भव्यों की पात्रता उछल पड़ी। जिनकी होनहार अच्छी होती है, वहाँ निमित्त रूप श्री गुरु सहज ही मिल जाते हैं। यही बनाव कौशांबी के राजा अतिबल के साथ बना। वे अपने काका–राजगृही के राजा सुबल से मिलने आये हुए थे। सुबलराजा ने अपने भतीजे राजा अतिबल का यथायोग्य सन्मान किया।

उसी समय नृप युगल को वनपाल ने आकर श्री सूर्यमित्राचार्य का संघ सहित वन में पधारपण हुआ है ऐसा शुभ संदेश सुनाया।

धर्म के वांछक दोनों राजा मुनिवरों की वंदना के लिये शीघ्र ही वन की ओर चल दिये। वन में दीप्ति आदि ऋद्धियों से शोभायमान गुरुवर श्री सूर्यमित्राचार्य के दर्शन पा आनन्द विभोर हो, शीश नमाकर नमस्कार किया और बड़े ही हर्ष पूर्वक आदर के साथ अष्टद्रव्य से पूजा की।

अनुपम ज्ञान प्रकाश के द्वारा समस्त दिशाओं के अंधकार के नाशक ऐसे श्री सूर्यमित्र गुरुवर की दैदीप्यमान देह की कांति देखकर राजा सुबल अति ही विस्मयता को प्राप्त हुए और तपश्चरण का अतिशय देख हर्षित होते हुए मन में विचार करने लगे। अरे यह सूर्यमित्र ! सर्व विप्रों में प्रधान मेरा महान शुभचिंतक पुरोहित था। 'परंतु अहो ! जैनेश्वरी दीक्षा और तपश्चरण के फलस्वरूप अनेक अनुपम ऋद्धियाँ प्रगट हो गईं। सूर्य के समान दैदीप्यमान रूप, महातेजस्वी, महाज्ञान की क्रांति से शोभायमान, सकल संघ में प्रधान ऐसे गुणवान सूरपद के धारक हो गये। अहो धर्म ! अहो धर्म का प्रभाव ! तप, संयम, ध्यानादि रूप धर्म से युक्त पुण्यवान महन्त पुरुष इस भव में ही सत्कार और पूज्यता को प्राप्त हो जाते हैं। तब फिर परलोक में ऐसी कौन सी विभूतियाँ हैं, जो उन्हें प्राप्त नहीं होगीं ? सब कुछ स्वयमेव पुण्य की दासी बनकर उनके चरणों में लोटेंगी।

जिस राज्य संपदा के त्याग से दोनों लोकों में आत्मिक सुख संपदा प्राप्त होती है, उसे ज्ञानवंत पुरुष छोड़ने में जरा भी विलम्ब नहीं करते। इस प्रकार के विचारों से राजगृही के राजा सुबल धर्म तथा धर्म के फल में परम श्रद्धाचरण कर, संसार, देह, भोगों से अत्यन्त **उदास** हो, राज्य के अत्यन्त पाप रूप भार को उतारने के लिये, गृहबंधन तोड़ने के लिये और कल्याणकारी पवित्र तपश्चरण अंगीकार करने के लिये तैयार हो गये। आ हा ! 'भूमि तो सर्वत्र है, वर्षा होने से और बीज बोने से फल की उपलब्धि भी अवश्यंभावी

है।' भव्य जीव तो सर्वत्र हैं, विरक्त गुरु द्वारा धर्मामृत की वर्षा पाकर आत्मरुचि का बीज पड़ा तो फिर ज्ञान–वैराग्य रूप फल निश्चित ही फूलेंगे और फलेगें।

हे गुरुवर ! उसके बाद राजा सुबल का क्या हुआ ?

हे सज्जन ! राजा तो क्षत्रिय होते हैं 'जे कम्मे शूरा वे धम्मे शूरा' जो कर्म करने में शूरवीर होते हैं वे कर्म काटने वाले धर्म में भी शूरवीर होते हैं। राजा को ज्ञान–वैराग्य का रंग तो चढ़ ही गया था, फिर क्या था ?

स्वरूप विश्रांतरूप तप की प्राप्ति हेतु कौशांबी के राजा अतिबल को राज्य भार सम्हलाने का विचार कर राजा सुबल ने कहा 'हे धीमान् नृप ! अतिबल, मगधदेश राजगृह नगर का सम्पूर्ण राज्य आप ग्रहण कीजिये। मैं तो संयम अंगीकार करता हूँ।

वैरागी सुबल के वचन सुनकर धर्मात्मा अतिबल ने कहा, हे राजन्! राज्यभार में जो दोष आपको दिखाई दे रहे हैं, वे ही दोष विशेषरूप से मुझे भी दिखाई दे रहे हैं। तप, धर्म, चारित्र के जो गुण आपको दिख रहे हैं वैसे ही गुण भेदविज्ञान रूपी नेत्रों से मुझे भी विशेष रूप से दिख रहे हैं।

इसलिये तप संयमादि गुणों के लिये राज्य का पाप भार छोड़कर मुक्ति का साम्राज्य प्राप्त करने के लिये मैं भी आपके साथ ही तप एवं संयम अंगीकार करूँगा।

जिनके माथे भार, वे डूबे मझधार में।
झोंक भार को भाड़ में हम उतरे भव पार।।

अतिबल को भी राज्य सुख से परांङ्मुख जानकर राजा सुबल ने अपने मीनध्वज नाम के पुत्र को राज्य तिलक करके आत्महित के लिये अतिबल तथा बहुत से अन्य राजाओं सहित, सभी जन सर्व परिग्रह का त्याग कर शीघ्र ही श्री सूर्यमित्राचार्य से वीतरागी, पारमेश्वरी जिन दीक्षा अंगीकार कर ली।

अहो ! स्वरूप की गुप्त गुफा के वासी ! धर्म के स्तंभ, शिवकांता के प्रिय, निर्वस्त्र दिगम्बर काया, हाथ में पीछी–कमण्डल, आत्मा का ध्यान करते हुए चार हाथ भूमि शोधते हुए, धर्म प्रभावना हेतु, भव्यों को मोक्षमार्ग दर्शाते हुए जगत के बंधु श्री सूर्यमित्र आचार्य संघ सहित वनखंड, पुर, ग्रामादि में विहार करने लगे।

वैराग्य की आई है बहार, हुआ गुरुवर का मिलाप।
चेतना की हुई है पुकार, जागा आनन्द अमाप।।

पूज्य आर्यिका नागश्री का समाधिमरण

अब हम इसे यहीं विराम देते हुए, अपने कथानायक भावी सुकुमाल के जीव के वर्तमान में आ जावें।

अपनी पर्याय के योग्य सर्वोत्कृष्ट व्रतों को धारण कर पूज्य नागश्री आर्यिकाजी, जो कि बाल्यावस्था में ही अनंतानुबंधी और अप्रत्याख्यान इन दो कषाय चौकड़ी के अभाव पूर्वक आत्मिक अतीन्द्रिय आनन्दामृत का पान करतीं हुईं जीवन पर्यंत निरतिचार तप, संयम को पालती हुईं वर्तमान आयु का मात्र एक माह अवशेष रह जाने पर समाधिमरण की सिद्धि के लिये संघस्थ आर्यिका समूह के समक्ष्य समाधिमरण की भावना व्यक्त की–मैं पंच परमेष्ठी की एवं चतुर्विध संघ की साक्षी पूर्वक चार प्रकार के आहार का त्याग करके, शरीर के प्रति निर्मोही हो आनन्द सहित सन्यास धारण करना चाहती हूँ।

पूज्य आर्यिका समुदाय ने निर्मलभावरूपी अमृत से सिंचित समाधिमरण के लिये, निर्यापकाचार्य की आज्ञानुसार प्रथम तो समाधिस्थ आर्यिकाजी को पूर्व दिशा तरफ मस्तक रख कर समाधिमरण की प्रतिज्ञा कराई। पश्चात् खाद्य, स्वाद्य, लेय और पेय इन चार प्रकार के आहार का क्रमशः त्याग कराया। क्षुधा, तृषादि सभी परिषहों पर विजय प्राप्त की। उपवासादि तपों के निमित्त से शरीर रूपी बगीचा के सूख जाने पर भी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र और सम्यक्तप रूप चार आराधनाओं का सतत आराधन करती हुईं धर्मध्यान में तत्पर आर्यिका जी से चार प्रकार के संघ के प्रति क्षमा करवाई। उसके बाद एकान्त स्थान में वस्त्र का त्याग कराके कायोत्सर्ग कराया।

पश्चात् आर्यिका संघ ने भेदज्ञान की पुष्टिदायक धर्मामृत की वर्षा करते हुए– "मैं एक शुद्ध सदा अरूपी ज्ञान–दर्शन मयी चेतन तत्व हूँ, मेरे में ज्ञान–दर्शन, सुख, वीर्य, प्रभुत्व, विभुत्व आदि अनंत शक्तियों का अक्षय निधान भरा है, प्रत्येक शक्ति की अनंत सामर्थ है, मुझे अपनी प्रभुता/अनंत चतुष्टय प्राप्त करने के लिये पर की किंचित्मात्र भी अपेक्षा नहीं। मैं पर से सदा भिन्न, एक अखंड अकृत्रिम चैतन्यबिम्ब हूँ। मैं तो पंच प्रकार के शरीरों से रहित अशरीरी परमात्मा हूँ। मेरा स्वभाव तो सदा आनंदामृत भोजी है। इसप्रकार संबोधन किया।"

शाश्वत सुखदाता समाधिमरण के कारण आनंदित हो रहा है अन्तर मन जिनका ऐसी मोक्ष साधिका, अशरीरीदशा की साधक आर्यिका नागश्री ने आत्मिक आनंद में रमते हुए नश्वर काया का त्याग करके लौकिक सुखों का निधान ऐसे सोलहवें अच्युतस्वर्ग में स्फटिक–मणिमयी मनोहर पद्मगुल्म विमान में दिव्यरूपवान पद्मनाभ नाम का महार्द्धिक देव हो गया, जो कि अनेक देवों द्वारा सेवनीय है।

मुनिराज (नागशर्मा) नाग समान भंयकर ऐसे मिथ्यात्व और कषायों का शमन करके, स्वरूपानन्द विहारी हो भूपर विचरण करते हुए निर्दोष एवं महान तप संयम को अपनी शक्ति को छुपाये बिना जीवन पर्यन्त पालते हुए आयु के अंत समय में प्रायोपगमन संन्यास धारण करके प्राणों का विसर्जन कर, तप संयम के प्रभाव से उसी अच्युत स्वर्ग में महार्द्धिक देव हुआ।

वास्तव में वस्तु का अपरिणामी स्वभाव तो आश्रयदाता होने से महाउपकारी है ही परन्तु परिणमन स्वभाव भी महा उपकारी है। यदि प्रत्येक समय वस्तु का परिणमन न होता तो द्रोह परिणामों का व्यय और मृदु एवं वीतरागी परिणामों का उत्पाद कैसे होता ? ब्राह्मणत्व भाव का त्याग और निर्ग्रन्थ मुनिदशा का उत्पाद कैसे होता ? यह सब परिणमन पने का उपकार ही तो है। परिवर्तनीय स्वभाव के कारण ही वस्तु में समयमात्र में ही जात्यांतर हो जाता है। इसलिये ज्ञानियों का उपदेश है कि "स्वभाव की प्रभुता एवं पर्याय की पामरता (परिर्वतनशीलता) का विवेक पूर्वक विचार, निर्णय कर स्वभाव की प्रभुता का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है।"

नागश्री की माता त्रिदेवी आर्यिका भी सम्यक्त्व सहित तप संयम

पालती हुई, देह से निर्ममत्व हो अन्त में सन्यास सहित मरण करके उसी सोलहवें स्वर्ग में पद्मनाभ देव का दिव्य रूपवान अंगरक्षक देव हुआ। चन्द्रवाहन, सुबल एवं अतिबल राजा जो कि वीतरागी संत हो गये थे, वे भी उत्तम प्रकार से मुनिधर्म का पालन करके अन्त में समाधिमरण सहित प्राण त्याग कर पन्द्रहवें आरण स्वर्ग में बड़ी विभूति के धारक महार्द्धिक देव हुए। और अन्य मुनिवर तथा आर्यिकायें भी यथाशक्ति सम्यक् सहित तप संयम पाल कर अन्त में समाधिमरण पूर्वक देह का त्याग कर सौधर्म आदि से लेकर अच्युत स्वर्ग तक अपनी अपनी योग्यता के अनुरूप देव हुए। कितनी ही आर्यिकाओं ने परिणामों की विशुद्धता से स्त्रिलिंग का छेद किया और कितनी ही स्वर्ग में देवियाँ हुईं। अनेक जीवों का बाह्य आचरण लगभग समान होने पर भी परिणामों में तारतम्यता अवश्य होती है जिनका ज्ञान उनके फल से होता है। इसका क्या कारण है ? अन्य कोई कारण नहीं उनकी उस उस समय की पर्यायगत योग्यता ही कारण है।

अब हम सभी चलें और चलकर अच्युत स्वर्ग में जाकर पद्मनाभ आदि देवों का वैभव देखें। उनके परिणामों को तथा पूर्व आराधना की अभी तक छा रही खुमारी को भी निरखेंगे। वे पद्मनाभादि देव अन्तर्मुहूर्त में ही सभी पर्याप्तिाँ पूर्ण कर पूर्ण यौवनास्था को प्राप्त हो गये। इन्हें (देवों को) गर्भ–जन्म के और बचपन की पराधीनता आदि के दुःख नहीं सहने पड़े, ये दुःख तो देवों को पर्यायगत योग्यता के कारण ही नहीं होते, अभी तो वे दुःख अस्ताचल की ओर चले गये हैं।

वे देव उपपाद होने के बाद अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही यौवनपने को प्राप्त हो, दिव्य एवं श्रेष्ठ वस्त्राभूषणों से मंड़ित हो, शिला संपुट के बीच दिव्य कोमल सेज पर तिष्ठते हुए अपने को इस रूप में देख विस्मयता को प्राप्त हुए। अरे यह दिव्यलोक और सम्पदायें ! यह दिव्य शरीर, कोमल शय्या ! इत्यादि देख ही रहे थे कि उन्हें अवधिज्ञान प्राप्त हो गया। उस अवधिज्ञान से इन विभूति आदि सभी को पूर्व तपस्या का फल जानकर, तथा पूर्वभवों का ज्ञानकर, उन्होंने अपने मन को धर्म में लगाया।

उसके बाद वे देव,परमधर्म की सिद्धि के लिये अपने परिवार सहित स्फटिक मणिमयी श्री जिनेन्द्रदेव के मंदिर में पहुँचे, वहाँ कोटि सूर्य के तेज से भी अधिक तेजयुक्त श्री अरहन्त परमेष्ठी की प्रतिमाओं को नमस्कार कर

स्तुति की। पश्चात् कल्पवृक्षों से प्राप्त महान विभूति के साथ मणिरत्नों युक्त द्रव्यों से जिनेन्द्र देव की पूजा की।

अहो ! साधक संत अपनी आराधना की अपूर्णता के कारण मोक्ष में न जाकर स्वर्ग में गये, वहाँ जाकर भी वहाँ की विभूतियों में लिप्त नहीं हुए, वहाँ भी वे सर्वप्रथम जिनेन्द्र देव के दर्शन, पूजन हेतु गये, लेकिन अकृत्रिम जिनबिम्बों के दर्शन करते करते भी तृप्ति नहीं हुई, इसलिए और भी अनेक जगह जिनदर्शन हेतु गये।

पद्मनाभ देव और भी पंचमेरू, नन्दीश्वरद्वीप, रुचकवरद्वीप संबंधी तथा ढ़ाईद्वीप संबंधी जिनबिम्बों के दर्शन, पूजन के लिये सपरिवार गये, वहाँ भी वंदन, पूजन करके विदेहक्षेत्र में साक्षात् विराजमान सीमंधर आदि जिनदेवों के पावनकारी दर्शन, पूजन करने के बाद भरतक्षेत्र में आकर श्री तीर्थंकर देवों के, सामान्य केवलियों के, गणधर देवों के, आचार्य, उपाध्याय एवं साधु परमेष्ठियों के चरणारबिंदों की भक्ति भाव पूर्वक अर्चना की। द्रव्य–भाव स्तुति एवं नमस्कार करके, पंच परमगुरु से प्रदत्त धर्मामृत का पान करके महान पुण्य का संचय कर अपने अपने स्थान को लौट आये। स्वर्ग में पूर्वकृत तप–संयमादि से उपार्जित पुण्य के फल स्वरूप दिव्य वैभव एवं इन्द्रियसुखों को अंगीकार किया।

ज्ञानी धर्मात्मा स्वर्ग में जन्म लेने के बाद स्वयं जिनदर्शनादि को जाते हैं परंतु मिथ्यादृष्टि देव अपने आप जिनदर्शन को नहीं जाते, उन्हें अन्यदेव प्रेरणा देकर ले जाते हैं। इससे ज्ञानी, अज्ञानी जीवों की परिणति का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है। लोक में कहा जाता है कि– 'पूत के गुण पालना में ही दिख जाते हैं।' इस कहावत के अनुसार।–

हे धर्मपिता ! स्वर्गों में असि, मसि आदि षट् कर्म नहीं होते, कल्पवृक्षों से ही उन्हें सब कुछ प्राप्त हो जाता है, तब फिर वे देव सागरों की आयु पर्यन्त क्या करते हैं ?

हे भद्र ! वे देव निरन्तर धार्मिक कार्यों में, संलग्न रहते हैं, जैसे कि एक सौ सत्तर क्षेत्रों में जाकर वहाँ के तीर्थंकरों के गर्भ, जन्म, तप, केवलज्ञान और मोक्ष कल्याणक मनाते हैं, उनकी द्रव्य–भाव स्तुति कर पूजा करते हैं। तीर्थंकरों के अलाबा और भी मुनिराज होते हैं उन्हें केवलज्ञानादि प्रगट होते हैं तो उनके भी कल्याणक मनाते हैं। प्रतिदिन अरहन्तों की दिव्यध्वनि सुनते

हैं, कभी आचार्य, उपाध्याय व साधुओं की पूजा, भक्ति कर धर्मलाभ लेते हैं। कभी अपनी अपनी शक्ति अनुसार अकृत्रिम चैत्यालयों की वन्दन, पूजनादि करते हैं। कितने ही देव तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि से धर्म की प्रेरणा पाकर सम्यग्दर्शन प्राप्त करते हैं। कभी अन्य देव–देवियों के साथ तत्वचर्चा करते हैं, तो कभी पुण्योदय से प्राप्त वैभव का भोगोपभोग करते हैं। वहाँ रात्रि–दिन का भेद नहीं है। वहाँ दुःखदाई ऋतुयें भी नहीं होतीं अतः सदैव सुखमा सुखमा काल के समान ही काल वर्तता है। तथा दीन, दुःखी, दरिद्री, निर्धन, रोगी दुर्भागी, काकभाषी,मदोन्मत्त एवं विकलांगी आदि जीव नहीं होते और न ही अशुभ सामग्री के ही दर्शन होते हैं। पुण्यवान ही ऐसे शुभस्थानों को प्राप्त करते हैं तब फिर वहाँ पाप एवं पाप का फल कहाँ से होगा ? नहीं ही होगा।

वे देव दिव्यलक्ष्मी, मनोहर कांति से शोभायमान अत्यंत धैर्यवान होते हैं। लोकप्रसिद्ध दुःखों से वे रहित होते हैं। मानो सुख सागर के मध्य ही उत्पन्न हुए हों। पद्मनभादि सभी देवों के नेत्रों की टिंकार नहीं होती। सप्तधातु, सप्त उपधातु, मल, मूत्र, पसेव आदि से रहित दिव्य वैक्रियक देहधारी होते हैं। तीन हाथ प्रमाण ऊँचा, सर्वांग सुन्दर देह और बाईस सागर की आयु होती है। बाईस हजार वर्ष बाद उन्हें भोजन को इच्छा होते ही उनके कंठ में अमृत झर जाता है, जिससे उन्हें क्षुधा की तृप्ति हो जाती है अर्थात् उन्हें मानसिक आहार होता है, कवलाहार नहीं होता। ग्यारह माह बाद एक बार श्वांस लेते हैं। अपने अवधिज्ञान द्वारा छट्ठे नरक पर्यन्त लोक के शुभाशुभ के हेतुभूत रूपी पदार्थों को जानते हैं, वे शुभ परिणामी होते हैं तथा छट्ठे नरक पर्यन्त गमन करने की सामर्थ्य भी उन्हें विक्रियाऋद्धि के बल से होती है। ऐसे अनेक गुणों के पात्र सोलहवें स्वर्ग के देव होते हैं।

देवांगनाओं के दिव्यरूप, मनोहर श्रृंगार वे नित्य देखते हैं और अपसराओं के मनोहारी गीत सुनते एवं नृत्य देखते हैं। रत्नमई महलों में रहते हैं और भद्रसाल आदिवनों में, कुलाचलों पर असंख्यात द्वीप समुद्रों में अनेक देव–देवियों के साथ क्रीडा करते हैं। परंतु मन में उनका विचार मात्र से प्रवीचार शांत हो जाता है, काया–वचन विकृत नहीं होते। पूर्व पर्याय में/मुनि की अवस्था में पवित्रता तथा पुण्य का संगम तो था ही, आत्मिक आनंद का अनुभव करते हुए सदा वन, जंगल पर्वतों पर तीर्थ धामों के दर्शनार्थ गमन करते थे। रत्नत्रय की साधना हेतु कभी–कभी आहार भी ग्रहण करते थे, परंतु सदा अनाहारी

पद की भावना भाते हुए आनंद सागर में सदा मग्न रहते थे। वही वृत्ति, वही प्रवृत्ति यहाँ देवलोक में भी है और भविष्य में भी रहेगी, परंतु अन्दर में बड़ा अन्तर है वहाँ आत्मसाधना हेतु सब होता था यहाँ भोगों के हेतु होता है।

कैसी विचित्रता है ? आगे पीछे मुनिदशा में तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शांति और बीच में एक कषाय चौकड़ी के अभावरूप शांति।

वे स्वर्ग संपदा एवं देवांगनाओं के भोगों बीच रहते हुए भी अन्दर से अर्थात् श्रद्धा अपेक्षा से तो उनसे विरक्त ही हैं। भाई ! स्वर्गों का वर्णन सुनकर मन ललचाने जैसा नहीं है, वहाँ पर भी मानसिक पीड़ा तो है ही; परन्तु ज्ञानी को मात्र मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी कषायचौकड़ी के अभाव संबंधी सुख है, और अज्ञानी के तो मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबंधी आदि चारों कषाय चौकड़ियों के सद्भाव से दुःख ही है, भले ही बाहर में कम दुःख हो; परन्तु है तो दुःख ही न ? तीन कषाय चौकड़ियों के अभाव पूर्वक मुनिदशा में वर्तने वाली अतीन्द्रिय आनन्दमयी शान्ति (मस्ती) वहाँ कहाँ है ?

वे पद्मनाभादि देव पूर्व उपार्जित पुण्य के फल स्वरूप सुख सागर (इन्द्रिय सुखों) के मध्य रहते हुए सागरों काल व्यतीत करेंगे।

इसलिये हे ज्ञानीजन ! उपमा रहित अतीन्द्रिय सुख एवं विषय सुख दोनों को देने वाला एक मात्र वीतराग सर्वज्ञ देव द्वारा बतलाये गये धर्म का सेवन करो।

जैसे कृषक की दृष्टि धान्य प्राप्ति पर होती है, धान्य के साथ भूसा तो स्वयमेव मिलता ही है। वैसे ही ज्ञानीजनों की दृष्टि सदा आत्माराधना से प्राप्त होने वाले अतीन्द्रिय सुख पर ही रहती है, उसके साथ पुण्य का फलरूपी भूसा तो सहज मिल ही जाता है, उसकी ओर ज्ञानी की दृष्टि नहीं होती। धर्म ही सर्व मनोरथों का दाता है, धर्मात्मा धर्म का ही आश्रय लेते हैं और वे ही तीर्थंकर एवं अन्य कल्याणकारी पदों को प्राप्त करते हैं। ऐसे धर्म को हमारा नमस्कार हो। जैनधर्म के अलाबा तीन लोक में और कोई सुखकारी वस्तु नहीं है। इस धर्म का बीज सम्यग्दर्शन है।

ऐसे धर्म की प्राप्ति के लिये निजगुणघातक, घातियाकर्मों को नाशकर पूर्ण आनन्दमयी निजपद की प्रार्थना करता हूँ।

मुनिवरों को शिवलाभ

भावयेद्भेद विज्ञानमिदमच्छिन्न धारया।

तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठिते।।

इस भेद विज्ञान को अविच्छिन्न धारा रूप से तब तक भाना चाहिये कि,जब तक ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान में ही प्रतिष्ठित जो जावे।

स्वसंवेदन रूप भेद–विज्ञान को भाती हुई नागश्री आर्यिका जी स्वर्ग में पधारीं थीं। वहाँ पद्मनाभ देव के रूप में रहकर बाईस सागर पर्यन्त इसी भेदज्ञान की भावना को भाते रहे हैं।

हे भव्योत्तम ! अब हम अपने चालू प्रकरण पर आ जावें। और देंखें कि–श्री सूर्यमित्र एवं श्री अग्निभूति मुनिवर किस साधना में तत्पर हैं ?

वे मुनिवर रत्नत्रय की परम विशुद्धता पूर्वक निरतिचार चारित्र से सुशोभित मोक्षमार्ग का प्रवर्तन करते हुए, अनेक देशों में विहार करते करते वाराणसी के बाहर, जहाँ उनके गुरुवर श्री सुधर्माचार्य ने साधना पूर्ण कर मोक्षलक्ष्मी को प्राप्त किया था, वहीं आकर दोनों मुनिवरों ने निश्चल आत्म ध्यान में लीन हो, घातिया कर्मों का घातक अद्भुत योग धारण किया, और मोक्ष महल के सोपान समान क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो प्रथम शुक्ल ध्यान से मोह अरि पर विजय प्राप्त की। फिर दूसरे शुक्ल ध्यान से शेष तीन घाति कर्मों को घात कर उन दोनों मुनिवरों ने लोकालोक प्रकाशक परम केवलज्ञान प्राप्त कर नव क्षायिक लब्धियाँ प्राप्त कीं। णमो अरहंताणं।

घनघाति कर्म विमुक्त अरु चौंतीस अतिशय युक्त हैं।
कैवल्यज्ञानादि परमगुण युक्त श्री अरहंत हैं।।

तब इन्द्रादिक देवों ने आकर गंधकुटी की रचना की और महानविभूति से त्रिलोकाधिपति उन युगल केवली भगवंतों की धर्मोत्सव सहित भावभक्ति पूर्वक पूजन की। नरेन्द्रों, सुरेन्द्रों, नागेन्द्रों द्वारा सेवनीय विभू अपनी भवतापनाशनी, अतीन्द्रिय आनन्ददायनी, सौख्यप्रदायनी दिव्यध्वनी द्वारा सतपुरुषों को मोक्षमार्ग प्रकाशते हुए देश, नगर, वन, पर्वत आदि में पूर्वप्रयोगादि से सहज ही विहार करते "ते जिन जहाँ–जहाँ विचरें, तहाँ–तहाँ तीरथ होंय" हुए, निर्वाण सुखं निज स्वरूप में सादि–अनन्त काल के लिये विश्रांति हेतु सहज ही अग्निमंदिर नाम के पर्वत पर पधारे। वहाँ तृतीय शुक्ल ध्यान के बल से योगनिरोध कर अब प्रभु चौदहवें गुणस्थान में विचरण करने लगे एवं पंच लघु अक्षर प्रमाणकाल चौहदवें गुणस्थान में बिताकर चतुर्थ शुक्लध्यान के बल से अर्थात् सर्वोकृष्ट पुरुषार्थ के द्वारा चरम साधना को प्राप्त करते

ही जली हुई रस्सी के समान अघातिया कर्मों को भी भस्म करके, उर्ध्वगमन स्वभाव के द्वारा लोक के अग्रभाग सिद्धिधाम में जा विराजमान हो गये। जैसे अग्नि जलने योग्य ईंधन को जलाकर भस्म कर देती है, वैसे ही अंतरंग में ध्यानाग्नि प्रज्वलित हुई तो कर्मवन ध्वंस हो गया। उधर बाह्य में भी क़ुदरत कैसा सुमेल बना कि उस पर्वत का नाम भी अग्निमंदिर ही था। णमो सिद्धाणं।

हैं अष्ट गुण संयुक्त, आठों कर्म–बन्ध विनष्ट हैं।
लोकाग्र में जो हैं प्रतिष्ठित परम शाश्वत सिद्ध हैं।।

प्रभु! युगल केवली निर्वाण पधारे, तब सौधर्म इन्द्रादिक और पद्मनाभ आदि देवों ने आकर श्री सूर्यमित्र सिद्ध भगवान और अग्निभूति सिद्ध भगवंतों की निर्वाण कल्याणक पूजा की।

निज वज्र पौरुष से प्रभो! अन्तर–कलुष सब हर लिये।
प्रांजल प्रदेश–प्रदेश में, पीयूष निर्झर झर गये।।
सर्वोच्च हो अतएव बसते लोक के उस शिखर रे!।
तुम को हृदय में स्थाप, मणि–मुक्ता चरण को चूमते।।

फिर सभी देवतागण अपने अपने स्थान को चले गये।

आर्यखण्ड की अनोखी विशेषतायें

इस जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विनयवान एवं धर्मात्मा ज्ञानी जीवों से भरा अवन्ती नाम का देश शोभ रहा है। इससे यह ज्ञात होता है कि पहले घर–घर में, देश–देश में धर्मात्मा ज्ञानी जनों का समूह सर्वत्र उपलब्ध था

और ज्ञानियों के देश में तीव्र कषायी, अन्यायी और अशुभ आचरण करने वाले स्वाभाविक ही नहीं होते अर्थात् न के बराबर ही होंगे। जिस देश में साक्षात् केवली भगवान विचरण करते हैं, वहाँ सहज ही चतुर्विध संघ सहित अवधि–मनःपर्ययज्ञानी, गणनायक आचार्य, चरमशरीरी, एकलविहारी मुनिराज मोक्षमार्ग की निरंतर प्रवृत्ति करते हुए विचरते हैं।

जिस देश के ग्राम, पुर, द्रोण, पत्तन, आदि बड़े बड़े नगर, मंदिरों से और धर्मात्मा महन्त पुरुषों से शोभ रहे हों। जिस देश के वन–पर्वतादि में, नदी के तटों पर, पर्वत की कन्दराओं में सर्वत्र अशरीरीदशा के साधक, महाधीर–वीर मुनिराज ही दिखते हों। जहाँ निजानन्द के प्यासे कितने ही जीव वन में जाकर गुरु उपदेशामृत का पान करके मुनिव्रत धारण करते हों। कितने ही पात्र जीव धर्म के लिये सम्यग्दर्शन सहित श्रावक के व्रत अंगीकार करते हों। आ हा हा ! वह देश कितने ही तपोधनों की निर्वाणभूमि बन गया। कितने ही जीव यहाँ की हुई आराधना के फल में सौधर्मादि स्वर्गों में इन्द्र एवं अहमिन्द्र पद प्राप्त करते हैं। कितने ही सुपात्र दान से भोगभूमि को प्राप्त करते हैं, उस देश का कितना क्या वर्णन किया जाय ?

पूर्वोक्त प्रकार वर्णन सहित उस देश के मध्य में सुख संपदा की खान परम रमणीक उज्जयनी नगरी है। जिसके बहुत ऊँचे ऊँचे कोट, परकोटे एवं दरवाजे हैं तथा जिसके चारों ओर गहरी–गहरी खाईयाँ हैं। जो अति दुर्जय अनेक शूरवीर सुभटों से भरी अयोध्या के समान शोभ रही है। उसमें अनेक वर्ण वाले जिनेन्द्र भगवान के अति उत्तम मंदिरों की पंक्ति शोभ रही है इसलिये वह उत्तम धर्म की खान है। उन मंदिरों के शिखर स्वर्ण रत्नमई अनेक प्रकार के कलशों एवं चित्र–विचित्र ध्वजाओं से शोभ रहे हैं

उन मंदिरों में भव्यों का समूह प्रतिदिन आकर दर्शन, पूजन, स्वाध्याय और ध्यान करते हैं। भगवान के गुणानुवाद भी मधुर शब्दों में वादित्रों सहित करते हैं। अतः वे जिनालय ऐसे लगते हैं। मानो साक्षात् मूर्तिमान धर्म ही हों। उस नगरी में पुण्यवान पुरुष प्रातः उठकर सामायिक और नमस्कार मंत्र का जाप आदि धार्मिक कार्य करते हैं। उसके बाद ही गृहादि कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। चार प्रकार के पुरुषार्थों में भी सर्वसिद्धि दाता सर्वज्ञ भगवान कथित धर्म पुरुषार्थ ही है।

श्रावकजन जिनमंदिर और चैत्यालयों में जिनबिम्बों का पूजन करके,

संयम, तप आदि के साधक संतों को आहार दान हेतु द्वाराप्रेक्षण करते हैं, नवधाभक्ति पूर्वक आहार दान देकर पुण्य का संचय करते हैं और अपराह्न काल में भी दिन में किये गये पापों के विनाश के लिये और आत्मसाधना के लिये कायोत्सर्ग एवं ध्यान आदि करते हैं। वहाँ के नगरवासी, पुत्र जन्म या विवाह आदि कार्यों में भी मंगल कार्य की वृद्धिदायक जिनेन्द्र पूजन आदि ही करते हैं कभी स्वप्न में भी देवी, दहाडी, क्षेत्रपाल, गजानन्द, देहली पूजन, रात्रिजागरण, शीतला आदि कुदेवों को नहीं पूजते इत्यादि शुभ कार्यों से सम्पन्न वह उज्जयनी नगरी है, पुण्य उपार्जन के फल स्वरूप वहाँ की प्रजा के पद, पद पर संपदायें प्रगट होती रहतीं हैं। धर्मात्माओं के वास के कारण उस नगरी ने भी धर्मनगरी नाम पा लिया है।

उस उज्जयनी के राजा वृषभांक भी सारभूत धर्माचरण, कांति, कीर्ति आदि शुभ लक्षणों से सम्पन्न हैं। देव, गुरु, धर्म के उपासक मानो साक्षात् धर्ममूर्ति का ही चिन्ह हैं। धनवानों में श्रेष्ठ, शुभकार्यों में अग्रणीय, व्रत, शील, उपवासादि करने वाला, सत् पात्रों को दान देकर उनके तप, संयमादि की वृद्धि में निमित्तभूत और अटूट धन–संपदा सम्पन्न एक सुरेन्द्रदत्त नाम का सेठ है। मानो सत्कार्य करने के लिये सुरेन्द्र ने उसे अटूट धन एवं धार्मिक बुद्धि दी हो। उसकी एक मनोहर गुणसम्पन्न, सुन्दर, पति की अनुरागणी एवं अनुगामनी, सभी को आनंददायनी, कल्याणकारणी यशोभद्रा नामक पत्नि है। परंतु उसे मन में निरन्तर इस बात का खेद रहता है कि–'करोड़ों स्वर्ण, रत्नादि संपदा और बहुत परिवार जन होने पर भी उसकी गोद सूनी है। जैसे–फूल–फल बिना बेल निष्फल है, वैसे ही मैं भी पुत्रवती, कुलवंती नारियों में पुत्र बिना शोभा विहीन हूँ। धन्य हैं वे नारीरत्न जो पुत्र के मुख को सदा अवलोकती हुई प्रसन्न रहतीं हैं।

गुरुवर दर्शन

मोक्षगामी पुत्र को जन्म देनेवाली माता के अब शुभ दिन निकट आ रहे हैं। एक दिन तीन ज्ञान से सुशोभित, गुण रत्नाकर, जगत के हितेषी, त्रिजगत वंदनीय, कल्याणकारक श्री वर्धमान मुनिवर संघ सहित, उज्जयनी के वन में पधारे। भव्यों का भाग्य जाग उठा।

तभी वनपाल ने आकर शीघ्र ही राजा साहब को मुनिवर के आगमन का शुभ संदेश सुनाया। संदेश सुनते ही प्रथम तो राजा साहब ने सात कदम

आगे जाकर गुरुवर को नमस्कार किया और मुनिवर के आगमन की आनंद भेरी बजबाई। तथा चतुरंग सेना सहित गुरुवंदना के लिये चल दिये।

राजा द्वारा बजबाई गई भेरी की आवाज सुन यशोभद्रा ने अपनी सखी से भेरी बजने का कारण पूछा। सखी ने कहा वन में परमपूज्य मुनिवरों का आगमन हुआ है उनके दर्शनार्थ अनेक वादित्रों का नाद करते हुए एवं महोत्सव मनाते हुए राजा साहब नगरजनों सहित वन की ओर जा रहे हैं।

सखी के वचन सुन यशोभद्रा सेठानी धर्मभावना सहित अपने हाथों में पूजन सामग्री लेकर मुनिवर की वंदना के लिये पहुँच गई। वहाँ क्षण, क्षण में आत्मिक शुद्धि की वृद्धि से वृद्धिंगत संघ सहित पूज्य श्री वर्धमान मुनिवर की वंदना–पूजा कर अपने योग्य स्थान में बैठ गई। इन्द्रों, नरेन्द्रों, नागेन्द्रों से वंदनीय एवं पूज्यनीय ऐसे मुनीश्वर के मुखारविंद से स्वर्ग–मुक्ति दायक, मुनि–श्रावक के भेद से दो प्रकार के धर्म को,–जिसका मूल भेदविज्ञान है, सुनकर आनंद सहित श्रावक के व्रत अंगीकार करके, हाथ जोड़, नत मस्तक हो मुनिवर से विनम्रता सहित पूछने लगी– हे भगवन् ! मेरी गोद भरेगी या नहीं कृपा कर बतलाईये।

महापुरुषों के वचन हित, मित और प्रिय होते हैं। कितना मधुर सम्बोधन। हे भद्रे ! महाधीर, वीर, दिव्य, रूपवान, गुण रत्नाकर, महापुण्य के फल का भोक्ता, सम्पूर्ण जगत में मान्य सभी कार्यों के करने में महा समर्थवान ऐसा उत्तम पुत्र तुझे होगा। लेकिन आप का पति सुरेन्द्रदत्त तो संसार सुखों से अत्यन्त उदास हो तपोवन की वांछा कर रहा है, परन्तु पुत्र न होने से तपोवन को जा नहीं पा रहा है। सुबुद्धिधारी धर्मात्मा आपका पति जबतक पुत्र का मुख नहीं देखेगा तबतक ही घर में रहेगा।

आ हा हा.....! धर्मात्मा जीवों को पुण्य का फल भी दुःखदायक लगता है। वे एक ओर से तो उनके प्रति उदासीन होते हैं, और दूसरी ओर से उन्हीं में प्रवर्तते हुए दिखते हैं। परन्तु अन्दर से उनके प्रति उत्साह निवृत्त हो गया होने से उनकी तो ऐसी स्थिति बन रही है कि–

"सदन निवासी, तदपि उदासी, अन्तर सुखरस गटागटी।
रमत अनेक सुरनि संग पै तिस परिणति तैं नित हटाहटी।।"

इस प्रकार हे भद्रे.... जैसे चैतन्य को निहारते ही संसार छूट जाता है, वैसे ही पुत्र का मुख निहारने के बाद, उत्तम गुणों का खजाना सुरेन्द्रदत्त

सेढ भी सकल संपदा और तुम्हारा त्याग करके निर्दोष तप को धारण कर लेगा। उसका सांसारिक राग टूट जायेगा। और तुम्हारा महाधीर, वीर, धर्म का उपासक धर्मात्मा पुत्र भी जबतक दिगम्बर भावलिंगी संत मुनिराज –'

जिनका आया भव का अन्त,
जिनने बताया मुक्ति का पंथ;
जो धारे वह भी हो जावे महन्त।'

के दर्शन नहीं करेगा, तबतक ही घर में रहेगा और मुनिदर्शन या वचन सुनने मात्र से ही धीर– वीरों के गोचर ऐसे दुर्द्धर तप को वह अवश्य ही धारण कर लेगा।

अहो ! मुनीश्वर के मुख कमल से एक साथ दो दो मोक्ष की बधाई और मनोवांछित सिद्धि सुनकर यशोभद्रा सेठानी मन ही मन आनंदित हो उठी पर साथ ही पति–पुत्र का वियोग भी होगा –यह जानकर उसके मन में कुछ खेद भी व्याप्त होने लगा।

मुक्तिदूत की मंगल अगवानी

बंधुओ ! जिनकी हम लोग इतनी लम्बी कहानी सुन रहे हैं और अति आतुरता से जिस मंगल बेला की प्रतिक्षा में हैं, जिसके अति ही सुन्दर रूप को निरखने के लिये सभी की अंखियाँ लालायित हैं, उस यशोभद्रा के गर्भ धारण की, पुत्र जन्म की और वैरागी सुरेन्द्रदत्त की मुक्ति पथ पर प्रयाण करने की मंगल घड़ी अत्यन्त निकट आ चुकी है।

हर्ष–विषादयुक्त मन सहित सेठानी यशोभद्रा वन से वापस अपने महल में आ गई। पुण्यफल से प्राप्त संपदा में धार्मिक भावना सहित रहती हुई यशोभद्रा कुछ ही दिन बाद गर्भवती हो गई, अर्थात् नागश्री का जीव जो पद्मनाभ नामक सोलहवें स्वर्ग में देव हुआ था। वहाँ से च्युत हो यशोभद्रा के गर्भ में आ गया।

हे भव्योत्तम ! भले ही जीव स्वर्ग की अपरंपार भोग सम्पदाओं से सम्पन्न हो, भले ही वैक्रियक देह धारी हो, भोजन–पान–मल–मूत्र आदि की बाधा रहित हो, और भले ही सागरों पर्यन्त की बाधा रहित आयु से सम्पन्न हो, भले ही तीर्थंकरों की, केवलियों की दिव्यध्वनी से लाभान्वित हो, भले ही तीर्थंकरों एवं केवलियों के बहुत से कल्याणक महोत्सव देव पर्याय में मनाये

हों, परन्तु आराधना की चरम सीमा की प्राप्ति तो मात्र मनुष्य पर्याय में ही होती है, अतः आराधना की पूर्ण प्राप्ति के लिये मनुष्य भव में आना अनिवार्य है। यद्यपि ऊपर कहे गये कारण और मनुष्य देह तथा वज्र ऋषभ नाराच संहनन पूर्ण आराधना के मूल कारण नहीं है। फिर भी ये सभी होते अवश्य हैं, इसलिये इन्हें भी जिनवाणी में व्यवहार से साधन अवश्य कहे गये हैं। बादाम के इच्छुक को बादाम का वृक्ष एवं छिलके के माध्यम से ही बादाम को खोजने पर उसकी प्राप्ति होती है। बादाम का वृक्ष एवं छिलका वास्तविक बादाम नहीं है, फिर भी वे लोक में बादाम संज्ञा को प्राप्त अवश्य होते हैं, और वास्तविक बादाम इनके बिना मिलती भी नहीं , यह अपरीहार्य स्थिति है।

आइये, अब हम सभी यशोभद्रा के अन्तरद्वंद को देखें। उसे धर्मगुरु के वचनों पर कुछ विश्वास तो था ही। इसीलिये उसके अन्तर में यह द्वंद चल रहा है कि पुत्र भी हो जावे और सेठजी भी वन को न जाने पावे, ऐसी युक्ति अपनाई जावे। इसलिये यशोभद्रा ने अपने गर्भधारण की बात किसी को भी, यहाँ तक की अपने पति को भी नहीं बतलाई और स्वयं ही अतिप्रछन्न वृत्ति से एकान्त गृह में रहने लगी। गर्भ वृद्धिंगत होता रहा और नवमास पूर्ण होने पर सेठानी यशोभद्रा ने रमणीक भूमिगृह में जाकर अत्यन्त देदीप्यमान कांति के पुंज ऐसे पुत्र को जन्म दिया।

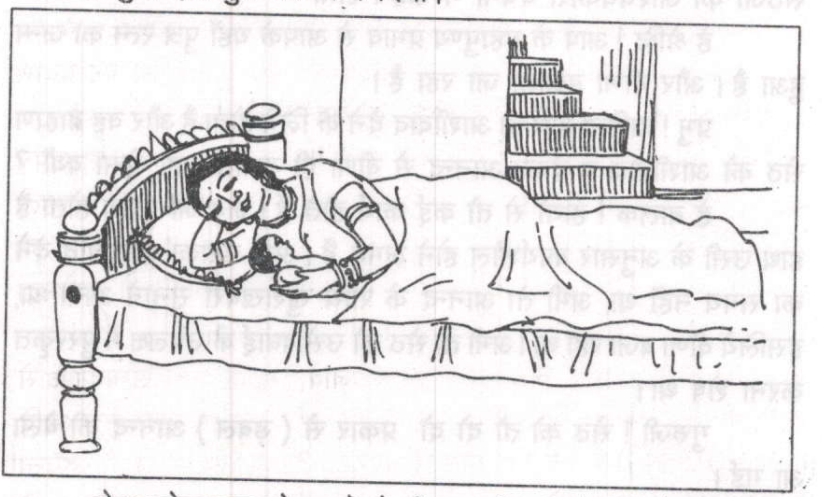

सेठ सुरेन्द्रदत्त तो पहले से ही कुछ वैरागी थे ही, उनने भी कुछ पूछतांछ नहीं की। उन्हें तो आत्मानन्द की धुन चढ़ी थी। जैसे दोज का चांद

प्रतिदिन अपनी कलाओं से वृद्धिंगत होता जाता है वैसे ही सेठ सुरेन्द्रदत्त भी प्रतिपल प्रतिक्षण आत्मसाधना की वृद्धि को प्राप्त होते जाते थे। उन्हें विषय कषायों का रस न के समान था और उसे भी वे काले नाग के समान भयंकर दुःखप्रद मानते थे। अभी तक सेठ सुरेन्द्रदत्त को सेठानी के पुत्र जन्म सम्बन्धी कुछ भी समाचार ज्ञात नहीं थे। सेठानी यशोभद्रा ने इस पुत्र जन्म की बात को गुप्त रखने के बहुत प्रयास किये, परन्तु कुछ ऐसा ही बनाव बना कि प्रसूति के मलीन वस्त्र जब दासी सरोवर के तट पर धो रही थी उसी समय एक ब्राह्मण की दृष्टि उस दासी व उन वस्त्रों पर पड़ी। उन्हें देखते ही ब्राह्मण ने पहचान लिया कि यह दासी सेठ सुरेन्द्रदत्त की है और उसने अपने मन में पक्का निर्णय कर लिया कि अवश्य ही सेठ सुरेन्द्रदत्त को पुत्र रत्न की प्राप्ति हुई है।

वह ब्राह्मण भी सेठ सुरेन्द्रदत्त का हित चिंतक था, वह सोचने लगा अच्छा हुआ सेठजी अब तक पुत्रविहीन थे, उन्हें पुण्योदय से पुत्र रत्न की प्राप्ति हो गई। चलकर सेठजी को यह बधाई देना चाहिये, जिससे हर्ष के साथ ही सेठजी से कुछ इनाम भी प्राप्त होगा। यह सोच वह हाथ में वीणा ले उसे दाहिने हाथ से बजाते हुए, सेठजी के पास पहुँचा और हर्ष पूर्वक सेठजी को आश्चर्यकारी वचनों में कहने लगा–

हे श्रेष्ठि ! आप के महापुण्य प्रभाव से आपके यहाँ पुत्र रत्न का जन्म हुआ है। और वीणा बजाता जा रहा है।

प्रभु ! दाहिना हाथ तो आर्शीवाद देने के लिये होता है और वह ब्राह्मण सेठ को आशीर्वाद न देकर आनन्द से वीणा ही बजाता रहा, ऐसा क्यों ?

हे बालक ! हाथों से तो कई कार्य होते हैं। जब जो प्रसंग होता है हाथ उसी के अनुसार कार्यशील होने लगते हैं। अभी उसका आशीर्वाद देने का समय नहीं था, अभी तो आनन्द के साथ खुशखबरी सुनाने आया था, इसलिये वीणा बजा रहा था। अभी तो सेठ को उसे बधाई के उपलक्ष में पुरस्कृत करना शेष था।

गुरुजी ! सेठ को तो दो दो प्रकार से (ड़बल) आनन्द की बेला आ गई।

हाँ, हे भव्य ! तूं तो बड़ा विचक्षण जान पड़ता है। हाँ ! हाँ !! इसमें क्या संदेह ? पुत्ररत्न प्राप्ति का आनन्द और संसार के जंजाल से छूटकर

आत्मरमणता का आनन्द। भाई ! पशु जैसा प्राणी जो कि अत्यन्त अल्पबुद्धि वाला होता है वह भी जब बंधन से छूटता है तो हर्ष से छलांग मार कर भागता है जबकि वह स्थाई छुटकारा नहीं है, फिर भी हर्षित होता है। तब फिर सदा के लिये बंधन से छुटकारे का उपाय प्रचुर आत्मानन्द की प्राप्ति है, उसे प्राप्त करने में भला किसे आनन्द नहीं आयेगा ? सभी को आयेगा ही।

चलें, हम भी सेठजी के आनंदित हृदय को देखें। ब्राह्मण के वचन सुनकर सेठजी हृदय में आनंदित भी हुए और अत्यन्त आश्चर्य चकित भी हुए। हर्ष सहित सेठजी घर में गये, परन्तु मन में पुत्र जन्म के आनंद से कई गुणा आनन्द दीक्षा लेकर रत्नत्रय की साधना करने का वर्त रहा था। जाकर पुत्र का मुख अवलोकन किया और पुत्र के सिर पर अपनी पगड़ी रखते हुए बोले—वीतराग सर्वज्ञ प्रभु का मार्ग तुझे भी शीघ्र प्राप्त हो, इतना कहकर शीघ्र बाहर आये और ब्राह्मण को बहुत—सी धन—संपदा दी एवं गृह—पुत्रादिक संपदा का त्याग कर संसार, देह और भोगों से विरक्त हो तप के लिये वन को चल दिये।

सेठ की जिनेश्वरी दीक्षा

'परिग्रह पापों की खान, निष्परिग्रही आनन्द महान।
प्राप्त कर गुरुवर से ज्ञान, करूं आनंदामृत का पान।।

जब गृह , पुत्र, स्त्री, धन, संपदा का राग ही नहीं रहा तब कौन उनमें रहे ? उन्हें तो वचनातीत, विकल्पातीत मात्र स्वसंवेदन गम्य आनन्द प्राप्ति की अब चटपटी लगी है। उनका रोम—रोम हर्षित हो रहा है, अपनी धुन में चले जा रहे हैं, चले जा रहे हैं। वन में पहुँच शांत—प्रशांत रस में सराबोर, प्रचुर स्वसंवेदन के स्वादी गुरु की मुख मुद्रा निरख तथा चरणकमलों को पा सेठजी का मन मयूर नाच उठा। उन्हें मस्तक नवा कर नमस्कार किया एवं हाथ जोड़कर श्रीगुरु से पारमेश्वरी दीक्षा देकर अनुगृहित करने की प्रार्थना की।

दीक्षार्थ आये हुए सेठ की भावनाओं को अच्छी तरह परख करके श्रीगुरु ने सेठजी को जिनेश्वरी दीक्षा दे दी और सेठजी ने भी मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक मोक्षदायनी पारमेश्वरी दीक्षा अंगीकार कर, सुखबुद्धि से अपनी शक्ति को स्फुरायमान कर सुख—मोक्ष दायक संयम सहित दुर्द्धर

तप में प्रवृत हो गये।

हे गुरुवर ! सेठजी के यहाँ कितने ही दिनों बाद, जीवन में प्रथम बार ही तो खुशी का दिन आया था, उनने पुत्र जन्म महोत्सव भी नहीं मनाया और दीक्षित हो गये, ऐसा करना उन्हें उचित था क्या ? कृपया आप ही बताईये।

संसार के रागरंग में फंसे जीवों को इसके अलावा और सूझ भी क्या सकता है ? अनंत जन्म—मरण का अभाव करने वाली पारमेश्वरी दीक्षा को प्राप्त करना उन्हें महोत्सव सा ही नहीं लगता। उन्हें तो उर्वशी बनकर उछलकूद करना,लड्डू पेडे माल मिठाई वगैरह अनाप सनाप चीजें खाना और अपवित्र वस्तुओं से बने ढ़ोल, ताल, मृदंग पीटना ही उत्सव लगता है। अरे भाई ! रागी जीवों को ये सब अच्छे लगते हैं। तथा माता यशोभद्रा तो रागी ही थी, फिर भी उसने पुत्र जन्मोत्सव में सर्व प्रथम जिनेन्द्र देव के मंदिरों में पूजनादि कराकर महोत्सव मनाया, पश्चात् परिवार जनों एवं नगर वासियों द्वारा नृत्य कराये गये, गीत गाये गये, बाजे बजबाये गये, और भी प्रकार से जन्मोत्सव मनाया गया। फिर सभी परिवारजनों ने मिलकर बालक का अति ही कोमल शरीर देखकर 'सुकुमार्ल' नाम रखकर नामकरण संस्कार कराया। जन्मोत्सव में एकत्रित हुए जनों को माता यशोभद्रा ने वस्त्राभूषण आदि देकर यथायोग्य सत्कार कराया। ४५ दिन के बाद परिवार जनों ने बालक को जिनेन्द्र देव के दर्शन कराये, उस समय भी जिनचैत्यालयों में अति ही ठाठबाट के साथ पूजन—विधान कराया। इसके अलावा और क्या होता है उत्सव में ? जो होता है वह सब कुछ माता ने कराया ही है।

परंतु, ज्ञानीजन तो जन्म धारण करना अच्छा नहीं मानते, अशरीरी आत्मा को शरीर धारण करना कलंक लगता है, लज्जाजनक लगता है, इसलिए ज्ञानी सदा जन्म, मरण का नाश करने वाला और अतीन्द्रिय आनंद देने वाला महोत्सव ही मनाते हैं। वे विचारते हैं—

नासाग्र दृष्टिवंत हो, देखें अदेही जीव को।
वे जन्म धारण ना करें, ना पियें जननी क्षीर को।।

ऐसा उत्सव तो श्रेष्ठी सुरेन्द्रदत्त जी ने पारमेश्वरी जिन दीक्षा लेकर मनाया ही है।

सुकुमाल..... आ हा ! सुकुमाल तो बस सुकुमाल ही हैं, बालचन्द्र समान अत्यन्त सुन्दर बालक समस्त परिवारजनों के नयनों को अति

आनन्दकारी, स्फुरायमान मनोहार कांति, शुभ आंगोपांग सहित उत्तम गुणों से युक्त, सुन्दर वस्त्राभूषणों से सुशोभित, दोज के चन्द्र समान वृद्धि को प्राप्त होता हुआ अपनी मनोहर आकृति से, मंद मुस्कान एवं मीठी मधुरवाणी से और बाल सुलभ चेष्टाओं से माता व अन्य सभी जनों को हर्ष उत्पन्न करा रहा है।

अब बाल्यावस्था का उल्लंघन कर सुकुमाल ने कुमार अवस्था में प्रवेश किया। दिव्य आभूषणों एवं शुभलक्षणों युक्त, सूर्य प्रभा को भी लज्जित करने वाली कांति, दीप्त तेज आदि गुणों से वास्तव में सुकुमाल, देव समान शोभ रहा है। सुकुमाल को शिक्षा, कला कौशल आदि के लिये माता यशोभद्रा ने योग्य शिक्षक की व्यवस्था अपने ही घर में की तथा खेल, कूंद हेतु सुकुमाल के समान छोटे, छोटे बालकों को भी माता बुला बुलाकर अपने सर्वतोभद्र महल में ही एकत्रित कर देती थी, परंतु सुकुमाल को बाहर की हवा भी नहीं लगने देती थी। अपने महल के बाहर भी कोई दुनियाँ है, इस बात की खबर भी सुकुमाल को नहीं पड़ने दी । सुकुमाल बाहर की दुनियाँ के संबंध में बिल्कुल अपरिचित था। उसने कभी बाहर जाने, आने की बात भी अपनी माँ से नहीं कही, इससे कुमार का शान्त एवं गंभीर स्वभाव का ज्ञान तो होता है, परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि पूर्वभव में की हुई आराधना का विस्मरण भी कैसा ?

लगता है कुमारावस्था में सुकुमाल को कभी देवदर्शन, शास्त्र श्रवण का प्रसंग ही नहीं बना होगा, क्योंकि मोह में पागल माता ने पुत्र को कभी महल से बाहर ही नहीं निकलने दिया। माता, बालक की बाल्य लीलाओं के आगे सब कुछ भूल जाती थी, मगर इस बात को एक समय के लिये भी नहीं भूलती थी कि—किसी भी तरह सुकुमाल को कोई भी दिगम्बर मुनि के दर्शन न होने पावें। इसलिए यशोभद्रा ने स्वर्ण एवं रत्नों से जड़ित अति ही मनोहर सर्वतोभद्र नाम का बहुत ऊँचा महल बनवाया और उसी के चारों ओर अति ही सुन्दर बाग लगवाया। उस बाग में ही सर्वतोभद्र महल को सर्व ओर से घेरे हुए स्वर्ण—रूपामयी बत्तीस महल और बनवाये, ताकि सुकुमाल को कहीं बाहर जाने की आवश्यकता ही न रहे। साथ ही उसने द्वारपाल आदि को सख्त आज्ञा की, किसी भी प्रकार इस मनोहर महल वा बाग के आस पास कोई भी दिगम्बर मुनिराज का आगमन न होने पावे।

अरे रे! अफसोस है कि मोह में अंधा मनुष्य वीतरागी दिगम्बर मुनीश्वरों के वचनों पर भी अविश्वास करता है। ऐसा मनुष्य अपने हिताहित के विवेक से भी शून्य हो जाता है। तब फिर मोक्षमार्ग के कारण भूत सर्वज्ञदेव, वीतरागी निर्ग्रन्थ गुरु, वीतरागता की पोषक जिनवाणी, उसमें प्ररूपित छह द्रव्य, सात तत्त्व, हेय, ज्ञेय, उपादेय आदि का कुछ भी विवेक कहाँ से रहेगा ? तथा अनादि निधन अनंतानंत वस्तुयें अपनी अपनी मर्यादा लिये हुए एवं द्रव्य अपेक्षा नित्य रहकर भी पर्याय रूप से प्रतिसमय पलटीं रहतीं हैं, यही कारण है कि विश्व व्यवस्था सदा अटल है, इसमें किसी की अपेक्षा नहीं, इस ध्रुव सत्य का मोहांध प्राणीयों को विश्वास ही नहीं आता। सुकुमाल को घर में रखने के लिये लाख उपाय किये यशोभद्रा ने, उनसे उसे पापबंध ही हाथ लगा, सुकुमाल की भली होनहार तो हो के ही रहेगी। **'चाहे महल किले में बन्द करो, चाहे जंत्र मंत्र लाख पढ़ो।' चाहे सुवर्णों की दीनारें रखो, चाहे रत्नों की ज्योति में रखो। वो होनी किसी के टालने से टल सकती नहीं।'**

मोह में जीव कार्य, अकार्य सब भूल जाता है, ऐसे विवेकहीनों को धर्म कैसे प्रगट होगा ? उसे तो धर्म का लेश भी नहीं हो सकता। कुमार सुकुमाल उन्हीं महलों में अपनी इच्छानुसार क्रीड़ा करता रहता है। वह दिन, रात का, मनुष्यादिकों की जाति का, ठंडी, गर्मी आदि का कुछ भी भेद नहीं जानता। समस्त दुःखों से रहित, महान रूपवान, जैसे विमानों में धरणेन्द्र, इन्द्र आदि वृद्धि को प्राप्त होते हैं, वैसे ही सुकुमाल भी अनुक्रम से महलों में ही वृद्धि को प्राप्त हुए।

कितनी विचित्रता है कि सरकार के सिपाही किसी व्यक्ति को पकड़ कर कैद करदें तो वह व्यक्ति एवं लोक में सभी यह जानते हैं और कहते हैं कि अमुक व्यक्ति बंदीखाने में है, यद्यपि वहाँ भी खाना,पीना चलना, फिरना आदि सभी होता तो है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति वहाँ दुःख का अनुभव करता है। पर यहाँ, सुकुमाल महलों में कैद है, उसकी माँ बराबर सतर्क है कि सुकुमाल किसी भी प्रकार महलों से बाहर न निकल पावे।

अब जरा सुकुमाल एवं उनकी माँ और परिवारजनों से पूछें कि सुकुमाल कैद में है या मुक्त ?

सभी की एक स्वर में आवाज आयेगी, कैद, कैसी कैद ? और सुकुमाल सहित सभीजन ऐसी स्थिति में भी सुख का अनुभव करते हैं। सिर्फ मान्यता

ही तो बदली है, संयोग तो समान ही हैं।

योवन अवस्था को पा सुकुमाल मनोहर, सुगंध युक्त पुष्पमाल, सुन्दर वस्त्राभूषण पहने, कांतिमान तेज, मधुर वचन, शंख, चक्र, तिल, मुस आदि सभी शुभ लक्षणों से युक्त और अपनी सुन्दर आकृति, परम लावण्यता, सौंदर्य आदि से संयुक्त देव समान शोभा को प्राप्त हो रहे हैं।

माता की ममता पुत्र को जबान देख कुछ सांसारिक चक्रजाल के स्वप्न संजोने लगी। वनखण्ड में मुनिराज सुरेन्द्रदत्त मुक्ति वधु की प्राप्ति की भावना संजो रहे हैं। इधर पुत्र सुकुमाल अपने योवन की मस्ति में मशगूल हैं। यशोभद्रा सेठानी ने सुकुमाल की शादी के लिये बड़े बड़े श्रेष्ठियों की कन्याओं के लिये बात चलाई। अच्छा घर, अच्छा वर, एकलौती सन्तान, सुन्दर, रूपवान एवं अटूट संपदा सब का संगम जहाँ है, फिर भला कौन अपनी कन्या नहीं देना चाहेगा ?

सेठानी ने बत्तीस श्रेष्ठियों से उनकी बत्तीस कन्याओं के लिये बात कर ली एवं उन श्रेष्ठियों से कहा कि आप सभी को अपनी कन्याओं को लेकर मेरे महल पर ही आना होगा। यशोभद्रा शादी के प्रसंग पर भी सुकुमाल को महल से बाहर नहीं निकलने देना चाहती थी। वह मन में कितनी सशंकित थी, इसका अनुमान इसी से लग जाता है। कोई भी श्रेष्ठियों ने उन्हें अपनी कन्याओं को लेकर महल पर ही आने की उल्टी रीति के सम्बन्ध में कुछ भी बात नहीं की, सभी वरपक्ष के अनुकूल ही अपनी सम्मति देते हुए अपनी चतुरिका, चित्रा, रेवती, पद्मनी, मणिमाला, सुशीला, रोहिणी, सुलोचना, सुदामा आदि बत्तीस कन्याओं सहित उनके माँ–पिता व अन्य कुटुम्बी जन यशोभद्रा के महल में आये और वहाँ ही रमणीक विवाह मण्डप में शुभ मुहूर्त में, बड़े उत्साह एवं वैभव के साथ यथाविधि से अपनी कन्याओं का सुकुमाल से विवाह सम्पन्न किया। यशोभद्रा ने वधुओं के कुटुम्बीजन आदि के साथ लग्न गीत गाये, बाजे बजवाये इत्यादि सहित बहुत उत्सव मनाया और वर एवं वधुओं को सर्वतोभद्र नामक मनोहर महल में पहुँचाया। इसके कुछ समय बाद उसने अपनी प्रत्येक पुत्रवधु को सर्वतोभद्र महल के चारों ओर बनाये गये स्वर्ण, रजत जड़ित बत्तीस महलों में से एक एक दे दिया। सेठानी यशोभद्रा के हर्ष का पार नहीं है। वह तो और भी न जाने क्या क्या करना चाहती है अपने पुत्र के लिय, पर पुण्य का फल कितना भी अधिक क्यों न हो परन्तु होता तो

वह सीमित ही है।

सुकुमाल पूर्वभव के आराधक जीव तो थे ही, फिर भी भूमिका अनुसार रागरंग के भाव एवं बाहरी प्रसंग तो बनते ही हैं और उस उस समय उन उन कार्यों में वे हर्ष पूर्वक वर्तते भी हैं। राग का ऐसा ही स्वरूप है। सुकुमाल सौंदर्य एवं लावण्य की खान तो हैं ही, उस पर भी चढ़ती जबानी के विषय भोगों का रंग। वे उस सर्वतोभद्र में बत्तीस युवा पत्नियों के साथ निरन्तर भोग, उपभोग से पुण्योदय को भोगने लगे। निश्चिन्त सुखसागर – इन्द्रियसुखों में लीन वे भूतकाल को भूल ही गये।

एक दिन एक व्यापारी देशान्तर से रत्नकंबल बेचने के लिये उस नगर में आया। उसने नगर के राजा वृषभांक का नाम सुना, वह सोचने लगा इतना कीमती कम्बल राजा के अलावा और कौन खरीद सकता है ? अतः वह कम्बल बेचने राजा के पास गया, और उसने राजा को वह रत्नजड़ित कम्बल दिखाया। रत्नकम्बल सुन्दर तो बहुत था पर कीमती भी बहुत था, इतना कीमती कि राजा ने उसका मूल्य चुकाने में अपने को असमर्थ समझा और वह कम्बल नहीं खरीद सका। उसने कम्बल, व्यापारी को वापस कर दिया।

वह व्यापारी राजा के यहाँ से वापस लौट यशोभद्रा का वैभव सुन उसके पास आया और उसने वह कम्बल यशोभद्रा को दिखाया। यशोभद्रा ने उसे अपने पुत्र सुकुमाल के योग्य जान कर कम्बल खरीद लिया और उस कम्बल को सुकुमाल के पास भेज दिया। पर रत्नकम्बल को बजनदार एवं कठोर देख कोमल सुकुमाल ने उसे वैसे ही ड़ाल दिया और माता को कहलवा दिया कि यह कम्बल मेरे योग्य नहीं है। तब यशोभद्रा ने उसके टुकड़े टुकड़े करवा कर अपनी बत्तीस पुत्रवधुओं के लिये सुन्दर जूतियाँ बनवा दीं।

एक दिन सुकुमाल की सुदामा नाम की पत्नी उन जूतियों को पहन कर अपने महल की छत पर गई और जूतियाँ खोल कर पश्चिमी दरवाजे के मण्डप में बैठ कर चारों ओर की दिशाओं का सौन्दर्य निहारने लगी। तभी एक गृद्ध पक्षी महल पर आया और जूतियों को मांस पिण्ड जानकर एक जूती अपनी चोंच में दबाकर ले उड़ा। वह पक्षी आकाशमार्ग से उड़कर राजा वृषभांक के महल की छत पर बैठ उसे खाने का प्रयत्न करने लगा। परन्तु रत्न तो कठोर होते हैं इसलिये उन्हें खाने में अपने को असमर्थ जान जूती

को वहीं छोड़ कर उड़ गया।

राजा वृषभांक भी अपने महल की छत पर चारों दिशाओं का सौन्दर्य निहारते हुए अपना मनोरंजन कर रहे थे कि अचानक उनकी दृष्टि उस रत्नकम्बल की जूती पर पड़ी। उसे देख राजा वृषभांक को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सेवक से कहा – यह रमणीक जूती किसकी है ?

राजा का वचन सुन निकट ही खड़े दास ने कहा हे स्वामिन्। यह रमणीक जूती सुकुमाल की पत्नी की है। सुकुमाल बहुत लक्ष्मीवान एवं सुख संपदा में इन्द्र के समान प्रतीत हो रहा है। दास का यह वचन सुन राजा का कौतूहल जाग उठा और वे सुकुमाल को देखने के लिये सर्वतोभद्र महल की ओर चल पड़े। यशोभद्रा को राजा के आने का समाचार विदित होते ही वह आश्चर्यचकित होती हुई राजा के सन्मान के लिये बाहर आई और राजा का विनय सहित यथोचित स्वागत कर, राजा को महल में ससन्मान ले जाकर उन्हें महल के बीच रत्नजड़ित स्वर्ण के सिंहासन पर बैठाया और भेंट स्वरूप अनमोल द्रव्य राजा के आगे रखती हुई सेठानी यशोभद्रा ने राजा साहब से आगमन का कारण नम्रता पूर्वक पूछा।

राजा वृषभांक ने कहा हे भद्रे ! मैं केवल आपके पुत्र को देखने के लिये आया हूँ और कोई कारण नहीं है। तब यशोभद्रा सेठानी हर्ष सहित जाकर अपने पुत्र सुकुमाल को बुला लाई। राजा वृषभांक सुकुमाल का विस्मयकारी रूप देख अत्यन्त प्रसन्न हुए और सन्मान पूर्वक उन्होंने सुकुमाल को अपने ही पास अपने ही सिंहासन पर बैठा लिया। सेठानी यशोभद्रा ने राजा को अपने महल में पधारने से अपना बड़ा पुण्योदय समझकर राजा से प्रार्थना की– हे राजन् ! आज आपके पधारने से मेरा घर पवित्र हुआ। आज आप यहाँ भोजन करने की कृपा कीजिये, हमें भोजन कराने का अक्सर प्रदान कर मेरी भावना पूर्ण कीजिये। सेठानी की प्रार्थना राजा ने स्वीकार कर ली।

राजा वृषभांक ने सुकुमाल सहित वहाँ स्वर्ण के पात्रों में अति मनोज्ञ भोजन किया और भोजन के बीच सुकुमाल की प्रत्येक चेष्ठा को ध्यान पूर्वक देखते रहे। भोजन से निवृत्त हो राजा ने सेठानी से कहा– हे कल्याणरूपनी! आपके पुत्र सुकुमाल को तीन बीमारियाँ हैं। उनके संबंध में आप क्यों निरुत्साह वर्त रही हो ?

सेठानी तो वैसे ही मोह में पागल थी, वह सुकुमाल की श्वांस प्रश्वांस

तक ध्यान से ओझल नहीं कर सकती थी फिर भला सुकुमाल के तीन–तीन बीमारियों की बात सुनना उनके लिये असह्य दुःखप्रद हो गई। वह तुरन्त पूछने लगी हे नृप ! बीमारी और वो भी एक नहीं, तीन–तीन। कृपया शीघ्र ही बताने की कृपा करें –इसे कौन–कौन सी बीमारियाँ हैं।

राजा ने जबाव दिया इन्हें एक तो आसन की दृढ़ता नहीं, चलायमान पना है। दूसरे प्रकाश में इनके नेत्रों में पानी आता है और तीसरे भोजन करते समय एक–एक चाँवल खाते हैं।

राजा के वचन सुन सेठानी को थोड़ा धैर्य बंधा। वे कहने लगीं– हे राजन् ! इसे ये बीमारियाँ नहीं हैं, इनका कारण तो यह है कि सुकुमाल सदा अत्यन्त कोमल शय्या व आसन पर सोता, बैठता है और आज आपके साथ वह जिस आसन पर बैठा है उस पर आपके मंगल स्वागत में क्षेपी गईं सरसों के कुछ दाने पड़े हैं, वे इसे चुभ रहे होने से इसके बैठने में चंचलता है, दृढ़ता नहीं है, और इसने मणिमई दैदीप्यमान महलों के बीच केवल रत्न प्रभा ही देखी है अन्य कोई प्रभा नहीं देखी, यहाँ आपके शुभागमन पर हमने घी के दीपक से जो आपकी आरती उतारी है, उसके धुंए से ही इसके नेत्रों से जल बह रहा है। साथ ही सूर्य अस्त होने से पहले खिले हुए कमल की पंखुड़ियों में धोकर भींगे हुए मनोग्य चाँवल रख दिये जाते हैं। प्रभात में उन चाँवलों से बना मनोहर सुगंधयुक्त भात का ही सुकुमाल भोजन करता है। आज आपके पधारने से ऐसे चाँवल कम होने के कारण उन्हीं में कुछ और चाँवल मिलाकर यह भात बनाया गया था। यह मिलाकर बनाये गये चाँवलों का भात इसे अरुचिकर लगने से इसने एक–एक चाँवल उठाकर खाया है।

सेठानी के मुख से ऐसे वचन सुनकर राजा अपने मन में बड़ा अचरज करने लगा और सन्माननीय वचनों द्वारा सुकुमाल की प्रशंसा करते हुए सभी सत्पुरुषों के बीच सुकुमाल का नाम 'अवंती सुकुमाल' घोषित किया। फिर सेठानी द्वारा भेंट में दिये गये रत्नाभूषण, वस्त्रादि लेकर राजा आनन्द सहित अपने महल को पधारे।

फूल चाहे बाग में खिले चाहे वन में; परन्तु खुशबू महकाये बिना नहीं रहता और नासिकावंत जीव भी उसकी सौरभ का आनन्द लिये बिना नहीं रहते। वास्तव में सुकुमाल का जीव एक उत्तम आत्मा है, कुछ ही क्षणों बाद वे साधु परमेष्ठियों में अग्रणी होनेवाले हैं, अतः उसकी महिमा पहले से ही

होने लगी। उत्तम पुरुष गृहस्थ हो या साधु, वे महल में हों या श्मशान में, उनमें अन्य प्राणियों से कुछ विशेष विशेषतायें अवश्य हुआ ही करती हैं।

तीन लोक में जिनकी कीर्ति विख्यात है ऐसे अवंती सुकुमाल पुण्योदय से मनोहर भोगोपभोगों को भोगते हुए अटूट संपदा सहित सर्वतोभद्र महल में अपने पुण्योदय को भोग रहे हैं। इसलिये आत्मशांति के इच्छुक जीवों को चाहिये कि वे सदा जिनेन्द्र भगवान द्वारा भाषित धर्म की उपासना करें और पुण्य के लोभी भी इस धर्म की ही उपासना करें क्योंकि वीतराग धर्म से ही लोकोत्तर एवं लौकिक दोनों प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं।

सुखरूपी माल से मालामाल सुकुमाल

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि।
अब्भट्ठिदो महप्पा धम्मोत्ति विसेसिदो समणो।।

जो आगम में कुशल हैं, जिनकी मोह दृष्टि हत (विनष्ट) हो गई है और जो वीतराग चारित्र में आरूढ़ हैं, उन महात्मा श्रमण को शास्त्रों में 'धर्म' कहा है।

हे सखा ! अभी तक हम सभीजन सुकुमाल के जन्म से लेकर गृहस्थ अवस्था पर्यन्त के अनेक प्रकार के लौकिक सुख एवं सुकुमाल के सुकुमार शरीर की कोमल क्रिया–कलापों को ही देखते आ रहे हैं। परन्तु अब हमें कोई अभूतपूर्व आनन्दकारी दृश्य देखने को मिलेगा। अब हम देखेंगे पुण्य और पवित्रता का संगम और अनुपम अकृत्रिम स्वभाव की अपेक्षा में पापोदय की सहज उपेक्षा, आ हा.....! कैसा दुरंगा रंग।

एक दिन सुकुमाल के मामा को "श्री यशोभद्र महामुनिराज जो तीन ज्ञान के धारी थे" उनने अपने अवधिज्ञान से सुकुमाल की अति अल्प आयु शेष जानकर उसे धर्म ग्रहण कराने की भावना जागी। उन्होंने जाना कि सुकुमाल की माता ने अपने महलों के जिनालयों में सकल संयमियों को आने का प्रतिबन्ध लगा रखा है। सुकुमाल की इतनी आयु विषय सेवनादि में व्यर्थ ही जा चुकी है, पर अब उसकी भव्यता का पाक हो चुका है। श्री यशोभद्र मुनिराज को ऐसा भाव आया कि सुकुमाल के महल के निकट जो चैत्यालय है उसी में वर्षा योग धारण किया जावे जिससे सुकुमाल को भी धर्म प्राप्ति का प्रसंग बन सके। ऐसा विचार कर सुकुमाल को संबोधने हेतु सुकुमाल के महल के निकट उपवन के बीच शोभायमान, उतंग, एवं त्रिजगत वंद्य ऐसे

चैत्यालय में आकर शुभ दिन में वर्षायोग धारण कर लिया। यशोभद्रा की आज्ञा को माली जानता था, मगर मुनिराज को चैत्यालय में आने को मना करने का साहस वह नहीं कर सका; इसलिए मुनिराज के आगमन का समाचार माली ने यशोभद्रा सेठानी को दे दिया। माली से मुनिराज के आगमन का समाचार सुन कर वह शीघ्र ही चैत्यालय में गई और वहाँ जाकर अरहन्तदेव और अपने भाई मुनिराज यशोभद्र को नमस्कार कर पूजन की।

मुनिराज को नमस्कार करती हुई सुकुमाल की माता यशोभद्रा विनयपूर्वक बोली– हे नाथ! मेरे प्राणों से प्रिय एक ही पुत्र है और वह आपके वचन सुनते ही संयम धारण कर लेगा, ऐसे श्री वर्द्धमान मुनीश्वर के वचन हैं। उसका संयम धारण करना मेरे लिये आर्तध्यान से मरण का कारण बनेगा। इसलिये हे दया निधान! आप मुझपर कृपा कीजिये अर्थात् आप यदि उचित समझें तो नगर के मंदिरों में पधारिये।

श्री मुनिराज ने कहा हे भद्रे! आज तो चातुर्मास स्थापना का दिन होने से मैंने चातुर्मास की स्थापना करली है, यदि वर्षायोग का समय न होता तो मैं अन्यत्र विहार कर जाता, अतः अब अन्यत्र विहार संभव नहीं है; क्योंकि साधुजन जीवों की दया के लिये ही चातुर्मास की स्थापना करते हैं। इतना कहकर अंतर, बाह्य समस्त उपधियों से रहित, देह का ममत्व त्याग कर सर्वत्र समतारस में पगे हुए श्री यशोभद्र मुनिराज ने पर्वत के समान अकंप होकर ध्यान का अवलम्बन लेते हुए कायोत्सर्गासन धारण कर लिया।

धन्य हैं, धन्य हैं तपोधन, धन्य है; आपकी आत्मसाधना धन्य है, आपकी धीरता एवं गुण गंभीरता, चार माह तक अहार–पानी का त्याग कर खड्गासन धार कर आत्मानन्द का रसपान करते हुए, सिद्धों से बातें करते रहे।

उन धीर–वीर योगीराज ने कार्तिक सुद पूनम के दिन रात्रि के चौथे पहर में सामायिक के साथ ही चातुर्मास क्रिया का समापन करके वर्षायोग का त्याग किया। उन्होंने उसी समय अपने अवधिज्ञान से जाना कि सुकुमाल की निद्रा खुल गई है। उसे संबोधने हेतु श्री यशोभद्र मुनिराज ने अमृतमयी वचनों द्वारा त्रैलोक्य प्रज्ञप्ति का वर्णन करना प्रारम्भ किया, उसमें प्रथम ही वैराग्य उत्पादक अधोलोक के दुःखों का वर्णन किया, उसके बाद मध्यलोक का और उसके बाद उर्ध्वलोक का वर्णन करते समय सोलहवें अच्युत स्वर्ग के पद्मगुल्म विमान में पद्मनाभ देव की विशाल विभूति एवं रूप संपदा का

अपनी मधुर वाणी से वर्णन करना प्रारम्भ किया। उसे सुकुमाल अपने महल में से ही सुन रहे थे, उसे श्रवण करते ही सुकुमाल को जातिस्मरण प्रगट हो गया। उस जाति स्मरण से उनने अपने पूर्वभवों क वृतांत जान लिया। उन्हें जानते ही सुकुमाल संसार, देह, भोगों से वैराग्य को प्राप्त हो अत्यन्त विरक्त हो गये।

जैसे क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ होते ही कर्मबन्धन तड़-तड़ टूटने लगते हैं, वैसे ही वैरागी सुकुमाल के परिणामों की उज्ज्वलता भी वृद्धिंगत होने लगी और ऐसे भाव आने लगे कि अहो ! इस ज़ीव ने अच्युत स्वर्ग की संपदा एवं विभूतियों और देवियों का सहवास सागरों पर्यन्त भोगा, फिर भी तृप्ति नहीं हुई तब फिर दुःखपूर्वक प्राप्त ये निंदनीय, पराधीन और शरीर को पीड़ादायक इस मनुष्य पर्याय के सुखाभासों से तृप्ति कहाँ से होगी ? क्या कभी अग्नि ईंधन से, समुद्र नदियों से, लोभी धन संग्रह से तृप्त हुआ है ?

अनन्त भवों में इस जीव ने अनेक प्रकार के मनोहर विषयों को भोगा पर कभी कहीं तृप्त नहीं हुआ। जो पुरुष इन्द्रिय विषयों में सुख मान कर तृप्त होना चाहते हैं, वे अज्ञानी अपथ्य सेवन (विष भक्षण) कर अमरता चाहते हैं। अथवा तेल ड़ालकर अग्नि को शांत करना चाहते हैं। 'अरे जिस शरीर से कामपीड़ा आदि की शांति के लिये विषय भोगते हैं, वह तो मल, मूत्र, हड्डी, मांस, खून, पीव आदि अशुचि पदार्थों से बना होने से अपवित्र एवं क्षणभंगुर है। अरे खेद है कि मैं ने इतना काल तपश्चरण / आत्मसाधना के बिना व्यर्थ ही विषयों में गवांया। यह शरीर वस्त्राभूषणों से ढ़का सुन्दर दिखता है अन्दर तो अत्यन्त घिनावन ही है, अशुचि ही है''।

आज मुझे स्त्री, पुत्र, महल, मकान, माता, धन संपदा, यश और बाहर से सुन्दर दिखने वाला यह शरीर, सबके यथार्थ स्वरूप का बोध प्राप्त हुआ है अर्थात् सबसे भिन्न मैंने अपने शाश्वत सुख भंडार आत्मा का पावनकारी दर्शन कर सम्यग्ज्ञान प्राप्त कर लिया है। अब मैं शीघ्र ही स्वरूप विश्रांति रूप तप को अंगीकार कर, काया के प्रति निर्ममत्व धारण कर मोक्ष की साधना करूँगा। पापों की खान, दुःखों की निमित्तभूत इन रंभाओं (सुन्दर पत्नियों) से मुझे कुछ भी प्रयोजन नहीं। अब तो मैं पूर्ण अतीन्द्रिय आनन्द रूप शिव रमणी के साथ केली करूँगा। नरकधरा के प्रवेश द्वार समान ज्ञानियों द्वारा उपेक्षणीय, बंदीखाने के समान ये महल आदि हैं, और धर्म के विनाशक,

महानिंद्य यह धन–संपदा एवं कुटुम्बीजन हैं। जरा से ग्रसित यह जबानी, यमराज के मुख में बसने वाली यह आयु दुःख के भार से युक्त ये क्षणभंगुर सुख हैं। ये पांचों इन्द्रियों के विषय धर्मरत्न के चोर हैं। ये सभी वैराग्य के शत्रु हैं। इस जड़–संपदा रूपी फांसी और स्त्रियों के सांकल से बंधकर मैंने व्यर्थ ही इतना समय खोया।

अहो ! दृष्टि फेर का कमाल, कहाँ इन्द्रिय विषयों की चकाचौंध में उन्मत्त हाथी सम विचरने वाले सुकुमाल, जिन्हें सरसों का दाना शल्य के समान चुभता था, जो बिना फुलाये चाँवल नहीं खा सकते थे, जिनके नेत्र दीपक का तेज बरदाश्त करने में असमर्थ, जिनने ठंड़ी, गर्मी, धूप, छांह भी कभी नहीं देखी हो ऐसे अवंती सुकुमाल इन सभी को सड़े हुए तृण के समान छोड़कर वन में जाने को तैयार हो गये।

सुकुमाल विचारते हैं– श्री योगीराज के वचनों का श्रवण कर आज मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ इसलिये मोह रूपी फांसी को मैं शीघ्र ही तोडूँगा। देह में जरा आने से पूर्व ही मैं संयम धारण करूँगा। आयु तो जल के बुदबुदे के समान विनाशीक है, इन्द्रियों का जब तक बारंट नहीं आता, जब तक बुद्धि में प्रवीणता, व्यवस्थितपना है, शरीर तरुण है, तब तक मैं उपसर्ग–परिषहों को जीतकर उग्र तप करूँगा। मात्र ऐसे विचारों में ही समय बिता देना योग्य नहीं। क्योंकि केवल विचारों से कार्यसिद्धि नहीं होती। कार्यसिद्धि के बिना यह मोही जीव पाप कर्मों के भार से क्षणमात्र में ही दुर्गति को प्राप्त हो जाता है। इसलिये मुझे विलम्ब करना योग्य नहीं।

सुकुमाल ने चारों ओर दृष्टि ड़ाली कि इस उतंग महल में से बाहर किस ओर से निकला जा सकता है। परन्तु उन्हें कोई मार्ग दिखाई नहीं दिया। लेकिन जहाँ चाह हो वहाँ राह मिल ही जाती है। सुकुमाल को वहाँ एक वस्त्रों की पोटरी दिखाई दी। उनने उसमें से वस्त्रों को निकालकर एक दूसरे से अच्छी तरह बांध कर एक रस्सी–सी बना ली और महल के खम्बे के साथ उसका एक छोर बांध कर उस रस्सी को नीचे लटका दिया। फिर उसी के सहारे महल से नीचे उतर के बाहर आकर शीघ्र ही चैत्यालय में मुनिराज के समीप पहुँच गये। मुक्ति सुख की तीव्र उत्कंठा ने यह अत्यन्त दुष्कर कार्य भी करा लिया।

समता रस में तल्लीन, वीतरागी मुनीश्वर श्री यशोभद्रजी को पहले

तो उन्होनें तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया। फिर अंजुली जोड़कर नतमस्तक हो आनन्द के साथ मुनिराज से जिनेश्वरी दीक्षा की प्रार्थना की।

हे भगवन् ! इस संसार में मैंने विषयों में आसक्त हो व्यर्थ ही अब तक का अपना जीवन गंवाया। आपके वचनामृत का पान कर आज मैं मोहरूपी विष का वमन कर अत्यन्त जागृत हो गया हूँ इसलिये हे प्रभो ! मुझ पर शीघ्र कृपा कर मुझे मोक्ष की कारणभूत भगवती दीक्षा दीजिये।

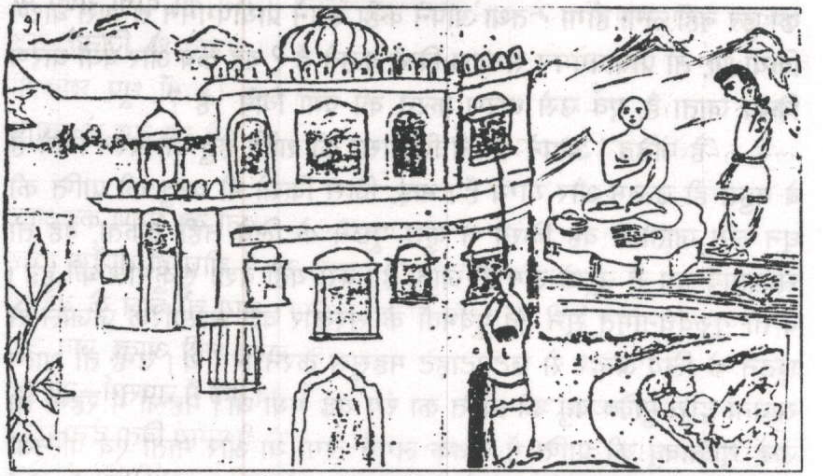

श्री यशोभद्र मुनिराज ने उन्हें पात्र जानकर कहा – हे भद्रे ! तूने बहुत ही उत्तम विचार किया है, क्योंकि तेरी आयु अब कुल तीन दिन की ही शेष रह गई है। इसलिए तू आगमानुकूल जिनदीक्षा को धारण कर।

यह सुनकर वैरागी सुकुमाल को और भी तीव्र वैराग्य रस उछल पड़ा, उन्होंने शीघ्र ही बाह्य–अभ्यंतर समस्त परिग्रह का और चार प्रकार के आहार का मन, वचन, काय की शुद्धतापूर्वक त्याग कर, आनन्ददायनी पारमेश्वरी दीक्षा श्री यशोभद्र मुनिराज से अंगीकार कर जिनमुद्रा धारण कर ली एवं गुरु आज्ञानुसार जो सर्वोत्कृष्ट सन्यास 'प्रायोपगमन सन्यास' है, उसे धारण कर ध्यान की सिद्धि हेतु धर्मध्यान में वर्तते हुए वन को प्रस्थान कर गये। अत्यन्त भयानक वन में जाकर मुनिराज सुकुमाल ने देह का ममत्व त्याग, पृथ्वी पर कायोत्सर्गासन से (एक दम स्थिर होकर) समाधिमरण के लिये अपने को धर्मध्यान में स्थापित किया। तभी यशोभद्र मुनिराज भी विहार कर दूसरे जिनमंदिर में चले गये।

हे गुरुवर ! श्री सुकुमाल ने अपनी माता एवं पत्नियों से कुछ भी कहे बिना गुप्त रूप से जाकर दीक्षा क्यों ले ली ? और यदि दीक्षा ले भी ली थी तो कम से कम एक दिन तो चैत्यालय में ठहरते। हमने तो मुनिराजों के मुख से भी सुना है कि चर्तुमास के अलावा शेष समय में मुनिराज तीन अथवा पांच दिन तक एक नगर, ग्राम या एक स्थान में ठहर सकते हैं। वे दीक्षा लेकर भंयकर वन में जाकर ध्यान करने लगे तो उन्हें किसी प्रकार का ड़र नहीं लगा होगा ? तथा आपने कहा उनने प्रायोपगमन सन्यास धारण किया था, तो प्रायोपगमन सन्यास किसे कहते हैं ? वह कब और क्यों धारण किया जाता है, एवं उसे धारण करने की क्या विधि है ?

हे पंडित ! आपने अपनी जिज्ञासा की शांति हेतु जो प्रश्न किये हैं वे बहुत ही उत्तम और योग्य हैं। भाई, जिसे किसी भी वस्तु की प्राप्ति की धुन लग जाती है वह किसी से कुछ पूछने के लिये नहीं रुकता, वह तो सर्वसमर्पणता से उसमें लग ही जाता है। बस यही दशा सुकुमाल की हुई। वे तो गुरुवचनामृत सुन एवं पूर्वभवों के संस्कार वश सांसारिक जंजाल से छूटने के लिये अन्दर से छटपटाहट महसूस करने लगे थे। उन्हें तो आत्म साधना द्वारा मुक्ति वधु की प्राप्ति का रंग चढ़ गया था। महलों में रहना तो उन्हें मुक्तिवधु की प्राप्ति में बाधक लगने लगा था और माता एवं पत्नियों की ममता से तो वे परिचित थे ही, यदि वे उनसे आज्ञा मांगते भी तो कोई उन्हें स्वीकृति देने वाला तो था नहीं। स्वीकृति मांगने पर भी माता एवं पत्नियों को दुःखी तो होना ही था, उनकी ममता का प्रदर्शन व आँसुओं की अविरल धारा से उनका मार्ग भी अवरुद्ध होने की संभावना ही थी। बिना आज्ञा लिये दीक्षित होने पर भी उनकी माता एवं पत्नियों की तो वही स्थिति होनी थी। दुनियाँ को देखने से तो स्वयं के कल्याण से वंचित रह जाना होता है, और ऐसा कोई विधान भी नहीं है कि दीक्षा से पूर्व परिवार जनों की स्वीकृति अनिवार्य ही हो। जिसके अन्दर में अतीन्द्रिय आनन्द उछालें मार रहा हो फिर वह किसकी राह देखे ?

गुप्त रूप से सुकुमाल के निकल जाने में ये सभी कारण थे। श्री यशोभद्र मुनिराज ने उन्हें बताया था कि उनकी आयु अब तीन दिन की ही शेष रह गई है। उनके पास अपनी साधना के लिये बहुत ही अल्प समय था इसलिये उन्होंने शीघ्र ही जाकर प्रायोपगमन सन्यास धारण कर लिया। जिन्हें

संयम साधना के लिये अधिक समय प्राप्त होने की संभावना हो और धर्मप्रभावना आदि का विकल्प हो तो वे मुनिराज विहार भी करते हैं और स्थान–स्थान पर उनके आहार, विहार एवं धर्म प्रभावना आदि कि लिये ठहरने के प्रसंग भी बनते हैं। लेकिन सभी मुनिराजों के लिये ऐसा नियम नहीं है। जैसे बाहुबली मुनिराज। उनके पास तो समय भी अधिक था। लेकिन श्री सुकुमाल मुनिराज के पास तो आत्मसाधना हेतु मात्र तीन दिन का ही समय था।

भाई ध्यान करना सीखना नहीं पड़ता। मुनिदशा अर्थात् प्रचुर आत्मसाधना का नाम ही ध्यान है। अपनी आत्मा का स्वरूप जानकर उसी की श्रद्धा कर, उसमें ही जम जाना, लीन हो जाना ही तो ध्यान है। मुनिराजों का प्रथम कार्य ही ध्यान है। जिस जीव को आत्मस्वरूप की ऐसी लगन व साधना प्राप्त हो जाती है वही तो मुनि दशा है। आत्मस्वरूप की प्रचुर साधना ही तो ध्यान है। उनका आत्मारूपी नन्दनवन ही क्रीड़ावन है, वे उसी में विचरण करते हैं। उस आत्मा रूपी नन्दनवन में अनन्त गुणरत्नों के अनन्त पुष्प खिले हुए हैं, उनकी आनन्दमयी, सुखमयी, प्रभुतामयी, शांति आदि खुशबू महक रही है। मुनिजनों की परिणति बाहर से हटकर इस आत्मसौरभ में ही मशगूल रहती है, उनकी आत्मज्ञान की किरणें केवलज्ञान को आमंत्रण देती रहतीं हैं, वे निर्भय हो अस्ति की मस्ति में मस्त रहते हैं।

उनका जगत में कोई शत्रु ही नहीं, उन्हें सभी प्राणियों के प्रति समताभाव है, उनने निर्भय स्वरूप के आश्रय से अनन्त निर्भयता को प्राप्त कर लिया है, अब उन्हें भय किसका ?

एकाकी वीचरते जो श्मशान में,
वन पर्वत में बाघ सिंह संयोग हो।
अड़ोल आसन ने मन में नहिं क्षोभता,
परम मित्र का पाया जाने योग जो।।

निःसंग हैं जो वायुसम, निर्लेप हैं आकाश से ।
निज आत्मा में विहरते, जीवन न पर की आस से।।

श्री सुकुमाल योगीराज तो सन्यास धारण कर अचल खड़े हैं, उनकी अन्तर–बाह्य परिणति को अवलोकने के लिये हमें भी स्थिर चित्त एवं अचलता का अवलम्बन लेना होगा। सहज परमानन्द रूपी पीयूष के पूर में डूबे हुए

मुनिराज कैसे आत्मा को देखते हैं ?

निर्दंड अरु निर्द्वंद निर्मम निःशरीर निराग है।
निर्मूढ़ निर्भय, निरवलंबन आत्मा निर्दोष है।।
निर्ग्रन्थ है, निराग है, निःशल्य जीव अमान है।
सब दोष रहित, अक्रोध, निर्मद जीव यह निष्काम है।।
कैवल्य दर्शन–ज्ञान–सुख कैवल्य शक्ति स्वभाव जो।
मैं हूँ वही, यह चिन्तवन होता निरन्तर ज्ञानी को।।
निजभाव को छोड़े नहीं, किंचित् ग्रहे परभाव नहीं।
देखे व जाने मैं वही, ज्ञानी करे चिन्तवन यही।।
संयम नियम तप से तथा रे धर्म–शुक्ल सुध्यान से।
ध्यावे निजात्मा जो परम होती समाधि है उसे।।

मुनिराज सुकुमाल ने आत्म तल्लीनता रूपी परम समाधि अंगीकार की थी। इसके व्यवहार में तीन भेद जिनवाणी में कहे गये हैं। भक्तप्रत्याख्यान, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन। चारों प्रकार के आहार का त्याग तो तीनों प्रकार के सन्यास में होता है। भक्तप्रत्याख्यान सन्यास में स्व–पर कृत देह का उपचार अर्थात् स्वयं अथवा पर के द्वारा शरीर की टहल करते, कराते हैं। इंगिनी मरण सन्यास में स्वयं अपने देह की टहल,सेवा – करते हैं, परंतु दूसरों से नहीं कराते, और प्रायोपगमन सन्यास में अपने देह की टहल–सेवा न स्वयं करते हैं न दूसरों से कराते हैं, वे तो देह के प्रति अत्यन्त निर्मम होकर मात्र निज आत्मा में ही लीन रहते हैं। यही इनको धारण करने की विधि है। और सन्यास, आयु के अंतिम भाग में लिया जाता है। वह अंतिम भाग उत्कृष्ट तो बारह वर्ष तक हो सकता है और जघन्य से आयु का अंतिम अंतर्मुहूर्त भी हो सकता है। यह सन्यास जीवन भर की गई आत्म साधना में विशेष वृद्धि करने के लिए अथवा तो जिसे मोक्षमार्ग परीक्षा में उत्तीर्णता प्राप्त करना हो अर्थात् उपसर्ग परिषहों पर जय प्राप्त करने के लिये धारण किया जाता है। यह प्रायोपगमन सन्यास उत्कृष्ट साधक ही ग्रहण करते हैं।

अब थोड़ा बाहर भी देखें, क्या घटना घट रही है। सुकुमाल कोमलांगी होने से जब वे महल से उतर कर श्री गुरु के समीप गये और वहाँ से भयंकर वन में जा रहे थे तब उनके पैरों में कंकड़ और कांटे आदि चुभ जाने से निकला हुआ खून गिरता जा रहा था। इसे यहीं छोड़ जरा कुछ और देखें–

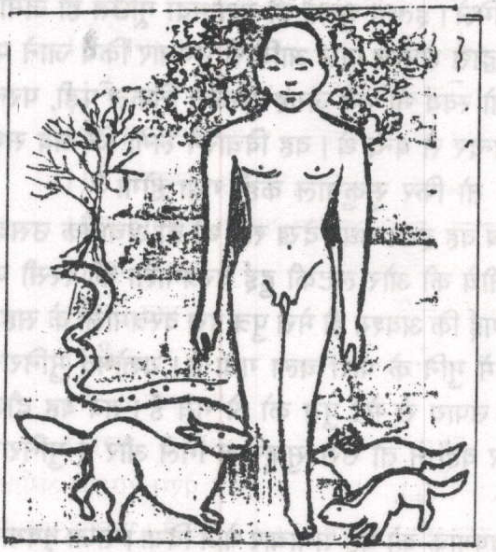

यही सुकुमाल का जीव लगभग सात भव पूर्व वायुभूति नाम का ब्राह्मण पुत्र था। तब उसने क्रोध में आकर अपनी भाभी के मुँह पर लात मारी थी, उस भाभी का जीव इस समय इसी जंगल में स्यालनी के रूप में है। और उसके दो बच्चे भी हैं। उसी स्यालनी ने जंगल में खून की बूंदें पड़ी देखीं, जो सुकुमाल के पैरों में कंकड़ व कांटे आदि चुभ जाने से गिरीं थीं। उन खून की बूंदों को सूंघती हुई स्यालनी अपने बच्चों सहित वहाँ जा पहुँची जहाँ सुकुमाल मुनिराज ध्यानमग्न खड़े हैं। सुकुमाल मुनिराज को देखते ही स्यालनी को पूर्वभव की घटना याद आ गई और उस समय अपने द्वारा बदला लेने की प्रतिज्ञा वश उसने अपने दोनों बच्चों सहित सुकुमाल मुनिराज के पैरों को खाना शुरू कर दिया और तीन दिन की अवधि में उन तीनों ने सुकुमाल के पेट तक का भाग खा लिया। पर धीर–वीर योगीराज सुकुमाल अपने आत्मध्यान में मग्न हैं, पुरुषार्थ की कमजोरी से यत् किंचित् विकल्प आता तो बारह भावनाओं का चिन्तन करते लेकिन आत्म ध्यान से रंचमात्र भी विचलित नहीं हुए।

मुनिकुंजर सुकुमाल की यह दशा तो हमने देखी, अब चलें थोड़े उनके शोकमग्न परिवार की दशा भी देख लें।

सुबह होते ही सभी रानियाँ जाग गईं, वे चारों ओर देखतीं हैं अपने प्राणनाथ को, परंतु कहीं नजर ही नहीं आये। सुकुमाल की बत्तीसों रानियों ने अपने प्राणनाथ को बत्तीसों महलों में खोजा पर जब कहीं नहीं पाया तब अत्यन्त दुःखित होती हुईं, अपनी सासो यशोभद्रा के पास पहुँचीं और कहने लगीं, माताजी ! आज आपके पुत्र कहीं भी नजर नहीं आ रहे हैं, सर्वत्र खोज

कर ली पर कहीं भी नहीं मिले। इतना सुनते ही यशोभद्रा मूर्छित हो जमीन पर गिर पड़ी। पुत्र वधुओं द्वारा शीतल जल आदि से उपचार किये जाने पर जब यशोभद्रा सचेत हुई तो स्वयं भी सब जगह खोजने निकल पड़ी, परन्तु सभी जगहों के दरवाजे अन्दर से बन्द थे। वह विचारने लगी कि जब सभी दरवाजे अन्दर से बन्द हैं तो फिर सुकुमाल कहाँ गया होगा ?

इसी चिन्ता में जब वह इधर उधर देख रही थी तो अचानक उसकी नजर महल के ऊपर से नीचे की ओर लटकी हुई वस्त्रमाला की रस्सी पर जा पड़ी। यशोभद्रा समझ गई कि अवश्य ही मेरा पुत्र इस वस्त्रमाला के सहारे नीचे उतर कर चैत्यालय में मुनि के पास चला गया है। यशोभद्र मुनिराज चातुर्मास योग धारण रूप उपाय से मेरे पुत्र को ले गये हैं। तब वह दौड़ी दौड़ी चैत्यालय में गई, पर वहाँ न तो उसे सुकुमाल मिले और न मुनिराज यशोभद्र ही।

तब उसने राजा वृषभांक को यह समाचार भेज दिया। राजा वृषभांक अपने सेवकों सहित सुकुमाल को खोजने निकल पड़े। पूरे नगरवासियों ने भी सुकुमाल को नगर भर में खूब खोजा, पर जब सुकुमाल नगर में थे ही नहीं तो मिलते भी कहाँ से ? फिर यशोभद्रा वा राजा वृषभांक सेवकों सहित सुकुमाल को वन में खोजने निकले। सुकुमाल के गुम हो जाने का समाचार वायु के वेग के समान सम्पूर्ण उज्जयनी नगरी में शीघ्र ही फैल गया। उज्जयनी वासियों ने भोजन का त्याग कर दिया, पशुओं ने घास नहीं खाया और पक्षियों ने दाना नहीं चुगा, सभी शोकमग्न थे। उस समय सुकुमाल की माता, उनकी बत्तीस पत्नियों एवं अन्य परिवार जनों के दुःखकारी शोक की कोई सीमा न थी।

सुकुमाल की इस वैराग्य दायक घटना से यह शिक्षा मिलती है कि अपने से हीन, दुर्बल, निस्सहाय और अपने से सबल, बलवान कैसा भी कोई प्राणी (जीव) हो, उसके प्रति सदा समभाव धारण करना चाहिये। किसी को भी कठोर वचन नहीं कहना चाहिये और काया से भी किसी को रंचमात्र भी पीड़ा नहीं पहुँचाना चाहिये, क्योंकि, सभी जीव अपने ही समान हैं और अपने ही समान सुख–दुःख का अनुभव करते हैं। मन में भी किसी के प्रति खराब व्यवहार, विचार आदि नहीं करना चाहिये, क्योंकि जिस का तू बुरा विचारता है वह तेरे अधीन तो है नहीं, उसका भला–बुरा होना तो उसके

पुण्योदय—पापोदय के अधीन है। उसका पुण्योदय होगा तो जगत की कोई भी शक्ति उसका बाल भी बांका नहीं कर सकती और उसका पापोदय होगा तो दूसरा उसके उपकार के लाखों साधनों द्वारा भी उसे सुखी नहीं कर सकता। उधर बुरा विचारने वाला व्यर्थ ही पाप बांध लेता है और भला विचारने वाला भी मुफ्त में ही पुण्य बांध लेता है।

इसी सुकुमाल के जीव ने वायुभूति के भव में जो मुनिनिंदा एवं भाभी को लात मारने के भाव किये थे उनका फल भव भव में भोगता आ रहा है। भाई ! एक समय में बंधे कर्म असंख्यात भवों तक अपना रंग दिखाते हैं। मिथ्यात्व भाव से बंधे कर्म सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर तक यथायोग्य समय में फल देते रहते हैं। इसीलिये तो कहा जाता है कि –

'बंध समय जीव चेतिये, उदय समय क्या उचाट'।

उदय के आने पर आकुलित न होना हो तो बंध के समय ही चेतना होगा। पर यह जीव बंध के समय सावधान न रहकर हर्षित होता हुआ पुण्य—पाप का बंध कर लेता है और पाक (उदय) के समय चिल्लाता है, तो नई बंध संतति बढ़ती जाती है।

कितना घोर उपसर्ग परन्तु अशरीरीदशा (सिद्धदशा) के साधक श्री सुकुमाल मुनिराज ने आगामी भव संतति का वीतरागी भावों द्वारा ध्वंस कर दिया। अज्ञात दशा में संचित किये हुए कर्मों का बहुभाग तो बिदा ले गया, कुछ अवशेष रहा है, वह भी शीघ्र ही जाने की तैयारी में है। श्री सुकुमाल मुनिराज इस घोर उपसर्ग के समय भी वीतरागता की वृद्धि हेतु बारह भावना भा रहे हैं।

बारह अनुप्रेक्षा का चिंतवन

१. अनित्य भावना :- यह सुन्दर सुकुमार शरीर एवं उन्मत्त यौवन, संध्याकालीन स्वर्णिम छटा के समान क्षणभंगुर है। पुण्योदय से प्राप्त भोग एवं भोग्य वस्तुयें कमल के पत्तों पर पड़े हुए जल बिन्दुओं के समान क्षणभंगुर हैं। उन्नत ललाट की लालिमा भी संध्याकालीन सूर्य की लालिमा के समान अल्पकाल में कालिमा में बदल जाने वाली है। क्योंकि सभी संयोगों पर, बत्तीस राज कन्याओं के भोगों पर, रत्नदीपक की ज्योति एवं कमलवास में बसाये सुगंधित—सुवासित चाँवल आदि भोग सामग्रियों पर, पर्यायों पर, विकराल काल की विकट मनहूस छाया पड़ी हुई है। अनादि संसार में भ्रमण करते हुए अनंत

बार मनुष्य पर्याय धारण की, अनन्त बार नारक पर्याय धारण की, जहाँ शरीर के तिल के बराबर खण्ड़ किये गये। अनन्त बार पशु पर्याय धारण की जहाँ भूख से पीड़ित अन्य जीवों ने इस शरीर को चोंट–चोंट कर खाया। अनेक बार देव पर्याय भी प्राप्त की। जहाँ हीन जाति के देवों पर हाथी, घोड़े आदि के रूप में सवारी की गई, अन्य देवों की ऋद्धियाँ देखकर मानसिक पीड़ा से झुलसता रहा। ये सभी दुःख मैंने ध्रवधाम निज भगवान आत्मा की विराधना से पाये हैं। इसलिये आज मैंने शाश्वत, ध्रुव आत्मा को जान लिया है, जो कर्मों का नाशक और उपसर्गों का विजेता तथा संसार के दुःखों से छुड़ाकर उत्कृट सुख का दाता है। जो मोह, राग, द्वेष रूपी शत्रुओं से ड़रते हैं, वे ही दुष्कर एवं कठिन तपस्या (स्व स्वरूप में उग्र पुरुषार्थ से जम जाना) करते हैं।

संसार में जो राज्य, भोग–उपभोग, शरीर,स्त्री, धन, संपत्ति वगैरह दिखते हैं वे सब कर्म जनित हैं। काल रूपी अग्नि में भस्म हो जाने वाले हैं। अतः संसार की प्रत्येक वस्तु अनित्य है ऐसा जानकर मुनिराज नित्य आनंद दाता शिवसुख की साधना कर रहे हैं। इस प्रकार आत्मिक आनन्दामृत की मस्ती में मस्त श्री सुकुमाल योगीश्वर अनित्य भावना भा रहे हैं।

२. **अशरण भावना** :- जिस प्रकार वन में किसी हिरण को कोई सिंह पकड़ ले तो उसे वहाँ कोई रक्षक–शरण नहीं है। उसीप्रकार यह जीवन भी मृत्यु के मुख में है। रस, रसायन, सुत, सुभट, मंत्र, तंत्र, राज्य संपदा, उर्वसी समान सुन्दर स्त्रीयाँ, ममता की मूर्ति माता ये कोई भी मुझे मृत्यु से बचाने में समर्थ नहीं। जैसे मझधार के बीच छिद्रमय नाव जो दुर्भाग्य से दुर्दैव के अधिकार में पड़ गई हो और जिसे नाविक खुद डुबोना चाहता हो, उस नाव के यात्री को कौन शरण होगा ? इसीप्रकार अगणित छिद्रों से युक्त यह शरीर रूपी नाव, रोगों से ग्रसित अर्धमृतकसम बुढ़ापन में ड़गमगाने लगी और आयुकर्म रूपी दुर्दैव के अधिकार में पड़ी है, तो मेरा कौन रक्षक/ शरण है ? शाश्वत् शरण्दाता मेरा आत्मा ही मुझे है, परंतु मैंने अपने को भूलकर अशरण पदार्थों में शरण खोजी, लेकिन कहीं शरण नहीं मिली और शरण न मिलने से मैं संसार वर्धक संकल्प–विकल्पों को कर्त्ता हुआ अनंत काल से इस चतुर्गति संसार में भ्रमता हुआ दुःख भोगता रहा। आज मेरे नेत्र खुल गये हैं, मैंने परमशरणमय अविनाशी ध्रुव निज ज्ञायक आत्मा की शरण ग्रहण

की है जो सादि अनंतकाल रहेगी। इस प्रकार मुनिपुगंव अशरणभावना का चिंतवन कर रहे हैं।

३. संसार भावनाः- द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भाव रूप पंच परावर्तनमय अनादि अनंत एवं अशुभ और भयंकर दुःखों का समूह यह संसार है। संयोगाश्रित जो चिद्विकार हैं वस्तुतः यही संसार है। अनुकूल संयोगों में सुख और प्रतिकूल संयोगों में दुःख ऐसे भ्रम के वश होकर मैं चतुर्गति के जंजाल में भ्रमता रहा। पर पदार्थों में भ्रम से सुख–दुःख की कल्पना करता रहा, यही दुःखद्वन्द है और संयोग ही जगफन्द है। उनमें सुख की कल्पना से रात दिन धन संपदा को इकट्ठा करने में लगा रहा, परन्तु सद्भाग्य के बिना कुछ भी नहीं मिलता। जैसे जल के मंथन से कभी घृत प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार संयोगों में से भी कभी सुख नहीं मिलता। अतः मेरा आत्मा ही सुखधाम – सुखमय है, संसार तो संकटमय ही है।

जब मेरे मुक्त स्वरूप में परद्रव्यों का सदा अभाव है, वे मेरे में प्रवेश ही नहीं कर सकते, तब फिर वे मेरे कैसे हो सकते हैं ? मुझे दुःखी कैसे कर सकते हैं ? अतः संयोग एवं वेदनादि मेरे ज्ञान में पर ज्ञेय हैं, मैं तो सदा ज्ञायक परमात्मा ही हूँ। इस प्रकार श्री सुकुमाल मुनिराज संसार की विचित्रता का चिन्तवन करते हुए मात्र अपने ज्ञायक स्वभाव में ही पर्वत के समान अचल हैं। जो शाश्वत् सुख के अर्थी होते हैं वे तो इस दुःखों से भरे संसार का वास्तविक स्वरूप जानकर इससे उदास हो जाते हैं और शाश्वत् सुख प्राप्ति हेतु अपना उपयोग निज स्वरूप में जोड़ देते हैं। सुख का निधान तो मोक्ष है। उसकी साधना तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय से होती है। इस प्रकार शाश्वत् सुखधाम के अर्थी श्री सुकुमाल मुनिराज संसार भावना का चिन्तवन कर रहे हैं।

४. एकत्व भावना :- मैं अकेला ही हूँ, मेरा आत्मा आनन्द का रसकन्द है, ज्ञान का घनपिंड है, सुख का सागर है, अनन्त गुणों का भंडार है, एकत्व ही सत्य है, एकत्व ही सुन्दर है, एकत्व ही कल्याणकारी है, सुख, शांति और स्वाधीनता एकत्व के आश्रय से ही प्रगट होती है, क्योंकि इनका आवास एकत्व में ही है। यह आत्मा अकेला ही जन्म के दुःखों को भोगता है, अकेला ही मृत्यु के दुःखों को भोगता है। नरक, निगोद, स्वर्ग, मोक्ष आदि के सुख–दुःख को यह जीव अकेला ही भोगता है। कोई साथी नहीं है। यह शरीर तो क्षण

भंगुर है। मैं तो इससे सदा पृथक् हूँ, भिन्न हूँ। तो फिर ये स्यालनियाँ खा रही हैं, इसमें दुःख कहाँ ? ये तो अत्यन्त भिन्नवर्ती कारागृह रूप शरीर को खा रहीं हैं, मुझे वे कैसे खा सकतीं हैं ? क्योंकि मैं तो अरूपी अमृत्रिम चेतन बिम्ब हूँ। इसप्रकार अपने एकत्व स्वरूप में मग्न रहना ही सच्ची आराधना है। कुशल प्रज्ञा के धनी, तत्वज्ञानी श्री सुकुमाल मुनिपुंगव अपनी आत्मा का ही ध्यान करते रहे। निज ज्ञानानंद स्वभाव में बारंबार उपयोग की एकता रूप एकत्व भावना का चिंतवन मुक्तिलाभ हेतु पूज्य मुनिवर कर रहे हैं।

५. अन्यत्व भावना :—सर्व प्रकार के संयोग मेरे चैतन्य स्वभाव से त्रिकाल भिन्न हैं, क्योंकि जब मेरी दर्शन—ज्ञानादि पर्यायें एवं गुणों के भेद भी अन्य हैं तब फिर यह पौद्गलिक शरीर मेरा कैसे हो सकता है ? और जब यह जन्म से मरणपर्यंत एक क्षेत्रावगाह रूप से रहने वाला शरीर भी मेरा नहीं, तब फिर उसकी किसी भी प्रकार की क्रिया में क्या दुःख और क्या सुख ? परद्रव्यों की पृथकता, भिन्नता, अन्यता और स्वद्रव्य की अपृथकता, अभिन्नता, एकता जानकर, धीर, वीर श्री सुकुमाल योगीश्वर सर्व संबंधों से विहीन अपने चैतन्यतत्त्व की आराधना करते रहे। यही अन्यत्व भावना का सार है। इस प्रकार मुनीश्वर अन्यत्व भावना को भा रहे हैं।

६. अशुचि भावना :- यह शरीर तो भूख, प्यास आदि की आग से दग्ध है, काम, क्रोध और रोग रूपी सर्पों से भरा है, मांस, मज्जा, खून आदि सात अशुचि धातुओं से भरा है। ऐसा यह शरीर विद्वानों द्वारा कभी भी प्रशंसनीय नहीं हो सकता। यह शरीर कारागृह समान है, सम्पूर्ण अपवित्र पदार्थों का गर्त है। इस अशुचिमय देह—देवालय में सदाशुचि, निर्मल, पवित्र आत्मा विराजमान है, जो मेरा ध्येय, ज्ञेय और श्रद्धेय है। मैं त्रिकाल अशरीरी चैतन्य तत्त्व हूँ, मुझे इस जड़ देह का स्पर्श भी नहीं हुआ, न है, न होगा। क्योंकि मेरे में और इस देह में अत्यांताभाव है। तब फिर अत्यंत भिन्न इस संयोगी देह में रहना मेरे लिये निंदनीय है, शर्मजनक है। मुझे तो शरीर का सम्बन्ध चाहिए ही नहीं, उसे यदि कोई ले जाय, खा जाये वह तो मेरा परमोपकारी मित्र है। मैं तो स्वभाव से अशरीरी हूँ और अब अशरीरी दशा को ही प्राप्त करूँगा। इस प्रकार मोक्ष की साधना हेतु वैराग्य जननी अशुचिभावना का मुनीश्वर चिंतवन कर रहे हैं।

७. आस्रव भावना:- जिस प्रकार छिद्रवाली नाव में पानी का प्रवेश

होने से नाव डूब जाती है, उसीप्रकार मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये संयोगाश्रित वृत्तियाँ होने से आस्रव हैं, भ्रमकूप हैं, दुःखरूप हैं और दुःख के कारण हैं, अशरण हैं, मलीन हैं। इनसे दुस्कर्मों का आस्रव होता है। इनका यथार्थ स्वरूप न जानने के कारण ही मैं संसार में डूबा रहा। ऐसी स्थिति में भी मैं स्वभाव से सदा इनसे भिन्न ही रहा हूँ। मैं सदा निरास्रवी तत्त्व हूँ, सुखमय हूँ, सुख का कारण हूँ। ऐसा जानकर मैं अपने आत्मा में लीनतारूप, तप, संयम, ध्यान आदि के द्वारा कर्मों के आस्रव का द्वार बंद करके सर्वसिद्धि को प्राप्त करूँगा। इसलिए मैं सदा निरास्रवी निज भगवान आत्मा की ही आराधना करता हूँ। इसप्रकार आनंदामृतभोजी श्री गुरुराज आस्रव भावना का चिंतवन कर रहे हैं।

८. **संवर भावना** :- मैं ज्ञान का मार्तण्ड हूँ, आनंद का रस कंद हूँ, मैं ही मेरा ध्येय हूँ, ज्ञेय हूँ, श्रद्धेय हूँ। मेरे आश्रय से उत्पन्न हुआ यह अतीन्द्रिय आनंद ही वास्तव में गुणों का सागर संवर है। इस आत्माराधना के बल से कर्मों का स्वतः रूक जाना भी व्यवहार से संवर कहलाता है। सदा विद्यमान आत्मा में मेरा उपयोग बारंबार लीन होता है यही सद—आचरण है, यही महान फल दाता है। नवीन कर्मों की पगध्वनि को रोकने का यही एक अचूक उपाय है। दुःसह घोर उपसर्गों में धीरता एवं वीरता प्रदाता भी यही संवर ही है। संसार शत्रु को हरने वाला और सम्पूर्ण अर्थसिद्धि का दाता भी संवर ही है। इस प्रकार गुणों का सागर संवर को जानकर कषाय और काया के निग्रह द्वारा संवर को सम्पन्न करके स्वरूप गुप्त श्री सुकुमाल मुनिराज संवर भावना भा रहे हैं।

९. **निर्जरा भावना** :- ध्रुवधाम निज भगवान आत्मा की रुचि यही संवर है और निजात्मा की ओर बढ़ने वाली निर्मलता ही निर्जरा है। यही निर्जरा मेरे वैराग्य की जननी है, रागादि की विध्वंसनी मेरी संगिनी है। तप, त्याग, सुख, शान्ति को विस्तारने वाली है। मुझे संसाररूपी अपार समुद्र से पार उतारने वाली भी यही है। स्वसमय में उदय में आकर स्वयं खिर जाने वाले कर्मों से होने वाली सविपाक निर्जरा और मंद कषाय रूप अकाम निर्जरा तो संसार में सभी के होती है, लेकिन इससे कुछ साध्य की सिद्धि नहीं होती, परन्तु संवर पूर्वक शुद्धोपयोग से, स्वरूप विश्रांति रूप तपश्चरण से होने वाली सकाम निर्जरा, अविपाक निर्जरा ही वास्तविक निर्जरा है। यह निर्जरा ही गुणों

की खान है, यही उपादेय है, यही मुक्ति की कारण है। सर्व अर्थों की सिद्धि की प्रदायनी है। इसलिये कर्मों की वास्तविक निर्जरा की इच्छा रखने वाले श्री सुकुमाल मुनिराज पर उपसर्ग, परिषह आने पर भी सुमेरू के समान अचल रहे। मुक्ति की प्राप्ति हेतु सदा तपश्चरण करते रहे। इसप्रकार महापुरुषार्थी श्री सुकुमाल मुनिराज निर्जरा भावना का चिन्तवन कर रहे हैं।

१०. लोक भावना :- यह लोक षड्द्रव्यमय है। इसके तीन भाग हैं अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। यह शाश्वत, नित्य एवं अकृत्रिम है। निज आत्मा को जाने बिना मैंने तीनों लोकों में भ्रमते हुए अनन्त दुःख उठाये हैं। स्वर्ग के विमानों में कषायों की मंदता होने और पुण्य का उदय होने से इन्द्रिय सुख की अधिकता अवश्य है, पर मानसिक पीड़ा का दुःख वहाँ भी कम नहीं है। नरक और तिर्यंच गति में तो मारण, ताडण, छेदन, भेदन , भूख, प्यास आदि के अनन्त दुःख मैंने सहन किये जो प्रत्यक्ष ही हैं। मनुष्यगति में कुछ पुण्य के योग से कुछ समय के लिये आजीविका के साधन रहे, निरोग काया और कषायों की मंदता के काल में इन्द्रिय सुखाभासों में मैंने सुख की कल्पना की परंतु आत्मिक सुख कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ।

एक मेरा ज्ञायक भाव ही निष्काम है, निष्क्रोध है, निर्मान है, निर्मोह है, निर्द्वन्द है, निर्दण्ड है, निर्ग्रन्थ है, निर्दोष है, निर्मूढ़ है, निराग है, मैं ही आलोक हूँ और मैं ही चिल्लोक हूँ , ऐसा लोकालोक प्रकाशक मेरा आत्मा ही वास्तव में लोक है इस प्रकार सर्वज्ञ वीतराग कथित शास्त्रों द्वारा सुख—दुःख युक्त इस लोक को जानकर मुनिराज यम, नियम, तप, संयम आदि द्वारा मोक्ष की साधना कर रहे हैं। इसप्रकार परमवैरागी श्री सुकुमाल मुनिराज लोकभावना का चिन्तवन कर रहे हैं।

११. बोधिदुर्लभ भावना:- संसार वन में भ्रमण करते हुए मैंने अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य पर्याय को बहुत ही मुश्किल से पाई है। उसमें भी दुर्लभ आर्यखण्ड का मिलना, यदि आर्यखण्ड भी मिल जावे तो उत्तम कुल का मिलना दुर्लभ, उससे भी दुर्लभ दीर्घ आयु का मिलना, दीर्घायु भी मिल जावे तो निर्मल बुद्धि का मिलना दुर्लभ है। पांचों इन्द्रियों की पूर्णता और कषायों की मंदता उत्तरोत्तर दुर्लभ है। ये भी मिल जावें तो सत् सज्जनों की संगति मिलना और सत्य धर्म को सुनने का अवसर मिलना और फिर उसकी आराधना ये तो और भी उत्तरोत्तर दुर्लभ है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय

की प्राप्ति होना महादुर्लभ है। सबसे दुर्लभ है केवलज्ञान और शिवलक्ष्मी पाना। जिनने ये प्राप्त कर लिये उनका नरभव सफल है।

जब मैं ही ज्ञेय हूँ और मैं ही ज्ञान हूँ, मैं ही ध्येय हूँ और मैं ही ध्यान हूँ। मैं स्वयं ही आराध्य हूँ और मैं स्वयं ही आराधना। साध्य और साधना भी मैं ही हूँ। निज आत्मा की साधना ही आराधना है। स्वयं सब कुछ होते हुए और सम्पूर्ण साम्रगी के मिलने पर भी मैं प्रमादी हो मूर्ख बना रहा। भव वन में भ्रमता रहा। अब महा दुर्लभता से मुझे यह मुक्ति का निमित्तभूत मनुष्य भव तथा रत्नत्रय आदि मोक्षसाधक सभी सामग्री की प्राप्ति हुई है, तो स्वरूप में अविचल स्थिरता द्वारा निर्वाण की साधना करूँ, यही कर्त्तव्य है। इस प्रकार उपसर्ग विजयी, परमध्यानी महामुनिराज श्री सुकुमाल स्वामी बोधिदुर्लभ भावना भा रहे हैं।

१२. धर्म भावना :- अपार संसार के दुःखों से निकाल कर मुझे उत्तम श्रेष्ठ शिवसुख में धारण कराने वाला एक धर्म ही है। निज आत्मा का श्रद्धान—ज्ञान और आचरण, शुद्धात्मा में लीनता ही धर्म है। उत्तम क्षमा, मार्दव, आर्जव, सत्य, शौच, संयम, तप, त्याग, आकिंचन, ब्रह्मचर्य ये सभी धर्म के लक्षण एवं इस साधना, आराधना के पर्यायवाची हैं। यह धर्म ही कल्पतरु है, यही कामधेनु है, यही चिन्तामणि रत्न है और यही संकटहरण है। इस धर्म तरु से याचना के बिना ही सभी कामनायें पूर्ण होती हैं। इस प्रकार पूर्णानंद के अभिलाषी श्री सुकुमाल मुनिराज धर्म भावना का चिंतवन कर रहे हैं।

धर्म की साधना के साथ होने वाले पुण्य बंध के उदयकाल में समस्त विभूतियाँ एवं श्रेष्ठतम पद भी सहज मिल जाते हैं।

अध्यात्म और वैराग्य जननी भावनाओं का एकमात्र आधार निज शुद्धात्मा ही है। इसी की आराधना इन भावनाओं का सार है। ऐसे ध्रुवधाम के आराधक श्री सुकुमाल मुनिराज ने स्यालनियों कृत उपसर्ग में अपने उपयोग को किंचित् भी विकृत नहीं किया, समता के सागर को अन्दर से प्रतिक्षण शांत भाव का ही स्तोत्र बह रहा है। इसप्रकार परमयोगी, सुमेरू समान अचल, धर्मगृह, चैतन्य बिम्ब श्री सुकुमाल मुनिराज ने बारह भावनायें भायीं। उसे ही ध्याया, उसे ही आराधा और उसमें ही जम गये, रम गये और उसी में लीन हो गये।

जो इनका चिन्तवन करता है उनके राग—द्वेष—रूपी शत्रु नाश हो

जाते हैं और संवेगभाव वृद्धि को प्राप्त होता है। ऐसा विचार कर बुद्धिमान पुरुषों का कर्त्तव्य है कि पाप के नाश के लिये अनन्त गुणों की जननी इन बारह भावनाओं का नित्य चिन्तवन करें।

इन बारह भावनाओं के चिन्तवन और ध्यान से श्री सुकुमाल मुनिराज के हृदय में वैराग्य भाव की अति ही वृद्धि हुई। उनने वास्तव में अपनी आत्मा को शरीर से अत्यन्त भिन्न जानकर निर्विकल्प चित्त से परम धीरता और वीरता के साथ उत्कृष्ट आत्मध्यान किया। उस आत्मध्यान के बल से ही स्यालनी कृत घोर उपसर्ग में जरा भी खेदित और विचलित नहीं हुए। अपनी धीरता और वीरता से उन्होंने उपसर्ग पर विजय पाई, वे वज्र के समान अभेद्य और अचल बने रहे।

वह वक्र परिणामी स्यालनी अपने दोनों बच्चों के साथ तीसरे दिन की अर्द्ध रात्रि तक श्री सुकुमाल मुनिराज को अति बल पूर्वक खाती रही, यहाँ तक कि उसने शरीर के अन्दर की अतड़ियों को भी खेंच कर बाहर निकाल लिया। श्री सुकुमाल मुनिराज के प्राणांत का समय आ गया पर धीर वीर मुनिराज उत्तम प्रकार से चारों आराधनाओं का आराधन करते रहे और धर्मध्यान एवं समाधिपूर्वक यत्न से उन्होंने देह का त्याग किया। अपनी महान योग शक्ति द्वारा पाप कर्मों का नाश करके, उत्कृष्ट पुण्य प्रभाव से मुक्तिवधु की सखी स्वरूप, मनोहर, सर्व कार्यों की सिद्धि करने वाली सर्वार्थसिद्धि नाम की स्वर्गभूमि को प्राप्त किया।

इसप्रकार पुण्योदय से प्राप्त अनेक प्रकार की विभूतियाँ एवं संपत्ति को श्री सुकुमाल स्वामी ने भोगकर, संसार भोगों में राग क्षीण हो जाने से विधि पूर्वक जिनदीक्षा लेकर पशुओं द्वारा किये गये घोरातिघोर उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर सर्वार्थसिद्धि नाम की स्वर्गभूमि को प्राप्त किया। श्रेष्ठ पुरुषों का भी कर्त्तव्य है कि अपने कल्याण के लिये वे भी धर्म साधन कर उपसर्ग—परिषहों पर जय प्राप्त करने के लिये धैर्य धारण करें। बहिरंग एवं अंतरंग दोनों प्रकार के सभी परिग्रहों से रहित होकर, श्रेष्ठ मार्ग के सन्मुख होकर जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र रूप रत्नत्रय का सेवन करते हैं, वे संसार समुद्र से पार हो जाते हैं। वे ही धीर, वीर सभी परिषहों पर विजय प्राप्त करके तीनलोक में पूज्य हो जाते हैं। श्री सुकुमाल स्वामी आदि ऐसे मुनिराजों को मैं उन जैसे गुणों की प्राप्ति के लिये स्तवन एवं वंदन

करता हूँ। घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने वाले श्री सुकुमाल स्वामी के तप के महात्म्य से स्वर्गलोक में इन्द्रों के आसन कंपायमान होने लगे। जब इन्द्रों एवं देवों को उन महामुनि श्री सुकुमालजी के काल का ज्ञान (मुनिदशा में घोर उपसर्ग में भी समताभावपूर्वक देह का त्याग किया) हुआ तो अत्यंत आश्चर्य चकित हो गये। लेकिन उनकी निर्विघ्न आराधना को जानकर अति हर्षपूर्वक उनकी स्तुति करने लगे।

अहो! गुणों के निधान, धीर–वीर विभू आप तीन लोक से वंदनीय, महाज्ञानी–ध्यानी, भव्यजनों में अग्रणीय, धैर्य के सागर हो। जितने आप शरीर से कोमल हो उससे अनंत गुणें अन्दर में कठोर हो, यही कारण है कि आप के वज्रपौरुष ने घोरातिघोर उपसर्गों पर भी सहज में ही विजय प्राप्त कर ली। इस प्रकार पूज्य मुनिवर की स्तुति करते हुए इन्द्र अपनी इन्द्राणियों एवं अन्य देवों सहित उपसर्ग विजयी श्री मुनिपुगंव की पूजा के लिये जहाँ तपो धन श्री सुकुमालजी ने देह का त्याग किया है उसी स्थान पर पहुँचे। रास्ते में देव दुंदुभी एवं जय, जय, के नाद से सम्पूर्ण आकाश गुंजायमान कर दिया। अति हर्ष पूर्वक देवेन्द्रों के समूह ने पृथ्वीतल पर दैवी सामग्री पूर्वक एवं अत्यंत भक्तिभाव से विभु–श्री सुकुमाल स्वामी की पूजा की।

जब देव दुंदुभी एवं नाना प्रकार के वादिंत्रों की ध्वनि और जय जय का नाद माता यशोभद्रा ने, ३२ वधुओं ने एवं परिवार–जनों ने तथा राजा सहित नगर जनों ने सुना, तब उन्होंने यह जान लिया कि अपने सुकुमाल अब यथाजातरूपधर, अकिंचनता के स्वामी बन, सामायिक संयम में आरूढ़ हो चलते–फिरते सिद्ध हो गये। आत्मिक अतीन्द्रिय आनंद के नंदनवन में केली करने लगे। मुक्ति की परम सखी यह जिनदीक्षा को धारण कर अनाहारी पद की साधना में संलग्न हो गये। देवों को दुर्लभ और भव्यों की प्राणप्यारी यह तपस्चर्या धन्य है, धन्य है।

यद्यपि माता को पुत्र के वियोग का दुःख है, वधुओं को पति वियोग का दुःख है; परंतु दूसरी ओर संसार के बंधनों से छूटकर हमारा पुत्र, हमारे प्राणनाथ मुक्तिसुन्दरी के बल्लभ बनेंगे –इसका हर्ष भी सभी को वर्त रहा है। अतः माता यशोभद्रा स्तुति करती हुई अपनी ३२ पुत्रवधुओं एवं राजा सहित नगरवासियों के साथ वन की ओर चल पड़ी।

माता एवं रानियों आदि के अन्दर ऐसे पवित्र विचार उछल रहे हैं

'पुष्प से भी अधिक कोमल होते हुए भी वज्र से भी अधिक कठोर तप अंगीकार कर, हे तपोधन ! आप अशरीरी दशा के साधक बन गये, क्षण, क्षण में आनंदामृत का पानकर सिद्धों से बातें करने लगे। आपने भवावलि की संतति को दग्ध कर अपुर्नभव के लिये प्रस्थान कर दिया। हे मुक्तिपते ! आप के चरणों में शत–शत बार नमन हो।

(महान धर्मात्मा श्री सुकुमाल स्वामी, जिनने ऐसे ऐसे भोगोपभोगों को एवं राजवैभव से भी अधिक सम्पत्ति को भी क्षण में सड़े हुए तृण के समान छोड़कर तपश्चर्या धारण कर ली और वन में ध्यानस्थ दशा में तीन दिन–रात तक घोर उपसर्ग होने पर भी निजानंदभोगी मुनिकुंजर ने उस उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर, इस नश्वर काया का त्याग कर सर्वार्थसिद्धि नामक स्वर्ग को प्राप्त किया।)

माता यशोभद्रा सहित सम्पूर्ण नगरवासी यह भावना संजोये हुए जा रहे हैं कि अभी हम सभी पूज्य सुकुमाल मुनिराज के पावनकारी दर्शन करेंगे, परंतु वहाँ पहुँचते ही देखते हैं 'मुनिराज का पशुओं द्वारा खाया गया आधा शरीर पड़ा है।' यशोभद्रा तो दृष्टि पड़ते ही मूर्छित हो गई। कितनी रानियाँ भी मूर्छित हो गईं, कितनी ही हक्की–बक्कीसी रह गईं अर्थात् सभी के हृदयों पर वज्रपात पड़ गया। उनका हृदय का दुःख, करुण रुदन एवं हा–हाकार से व्यक्त हो रहा हैं।

कुछ समय बाद सचेत व्यक्तियों ने मूर्छित व्यक्तियों का शीतल जलादि से उपचार किया, उनकी मूर्छा दूर हुई। तब श्री माता यशोभद्रा ने वर्द्धमान आचार्य गुरुवर के वचनों का स्मरण किया, कुछ विवेक जागा, तब कुछ धीरज बांधती हुई माता यशोभद्रा सभी को आश्वासन देती हुई कहने लगीं– 'संसार में ऐसे भी महापुरुष होते हैं जो इन्द्र समान भोगों को एवं राज्य सम्पदा को ठुकराकर तपस्या में लीन हो जाते हैं और उपसर्गों की बोछारों में भी आत्मसाधना में मेरु समान अचल रहते हैं, किंचित् भी चलायमान नहीं होते। और आत्मसाधना के बल से स्वर्गों का वैभव प्राप्त करते हैं तथा जन्म–मरण का नाश कर अनंत आनंदमय मोक्षलक्ष्मी तक को प्राप्त कर लेते हैं। धन्य हैं ऐसे प्राणी, उनका मनुष्य भव सफल है।'

३२ वधुयें कोमल बालायें थीं, उन्हें धीरज बंधाने के लिये माता यशोभद्रा वैराग्य प्रेरक वचनों से संबोधित कर तो रही है परंतु हृदय का दुःख

उछल कर नेत्र द्वारों से श्रावण–भादों की झरी लगाये हुए है।

राजा एवं प्रजाजन चिंतित, अब क्या किया जाय ? क्योंकि साधु भूमिका में समाधिमरण के पश्चात् क्या विधि–विधान होता होगा ? राजा एवं कुछ यशोभद्रा के परिवार के व्यक्ति पूज्य १०८ श्री यशोभद्र मुनिराज के पास पहुँचे और विनय पूर्वक पूछने लगे, हे गुरुवर ! समाधि के पश्चात् की क्रियाओं का क्या विधान हैं, कैसे होता है ? हम सभी अनभिज्ञ हैं।कृपया आप बतलाईए।

पू. गुरुवर ने कहा मुनिवर के त्यक्त शरीर को वहीं रहने दीजिए और आप सभी वापस अपने अपने घर जाईए।

क्योंकि मुनिराज आरंभ, परिग्रह एवं हिंसा के नव कोटि से त्यागी होते हैं, इसलिए उन्होंने कुछ करने का नहीं कहा।

राजा आदि पुनः वन में जाकर माता यशोभद्रा सहित सभी को वापस लेकर जिनालय में पहुँचे, जहाँ पर मुनि श्री यशोभद्रजी विराजमान हैं। प्रथम जिनेन्द्र भगवंतों का दर्शन किया पश्चात् गुरुवर दर्शन कर माता ने शांति पूर्वक मुनिराज से पूछा, हे भगवन् ! श्री सुकुमाल पर मेरा जो इतना अधिक स्नेह है, उसका क्या कारण है, ? कृपा कर मुझे बतलाईये।

इस प्रश्न को सुनकर मुनिराज श्री यशोभद्रजी ने अपने अवधिज्ञान से पूर्व के सात भवों को जानकर कहना प्रारम्भ किया।

पूर्व भव में जो नागशर्मा नाम का ब्राह्मण था वह धर्म के प्रसाद से अच्युत स्वर्ग में गया, वहाँ से आकर वह सुरेन्द्रदत्त नाम का सेठ हुआ, वह महान धर्मात्मा होने के कारण संसार से विरक्त हो गया है। सुरेन्द्रदत्त के पिता का नाम इन्द्रदत्त और माता का नाम गुणवती है। उन दोनों का श्रेष्ठ पुत्र सुरेन्द्रदत्त तुम्हारा पति था। साथ ही राजा चन्द्रवाहन का जीव भी तप के प्रभाव से आरण्य स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से आकर मैं यशोभद्र (जो मैं तुम्हारे समक्ष हूँ) हुआ हूँ। मेरे पिता का नाम सर्वयश और माता का नाम यशोमति है। मैं बचपन से ही संसार–भोगों से उदासीन था और आश्चर्य कारक विरक्त बुद्धि के कारण मैं ने जिनदीक्षा धारण की और अब इसी तप के बल से मुझे अवधिज्ञान एवं मनःपर्ययज्ञान प्रगट हुए हैं और जो त्रिदेवी नामक ब्राह्मणी थी वह भी तपोबल द्वारा अच्युत स्वर्ग में गई, वहाँ से आकर तूं यशोभद्रा हुई है, जो मेरी बहन (गृहस्थावस्था में) थी। सम्यग्दर्शन के अभाव

में तेरे पुत्र सुकुमाल में तेरा महान स्नेह और मोह है। नागश्री का जीव अच्युत स्वर्ग में पद्मनाभ देव हुआ था, वह वहाँ से आकर तेरा पुत्र जगविख्यात, महापुण्यशाली परमधर्मात्मा सुकुमाल हुआ। जो सुबल राजा था, वह तपोबल से आरण्य स्वर्ग में गया था, वहाँ से आकर यहाँ वृषभांक नामक राजा हुआ और जो अतिबल राजा था। वह तपोबल से आरण्य स्वर्ग में जा वहाँ से आकर वृषभांक राजा का कनकध्वज नाम का पुत्र हुआ है।

इस प्रकार श्री यशोभद्र मुनिराज के मुखरूपी चन्द्रमा से निकले वचनामृत को पीकर, यशोभद्रा एवं वृषभांक राजा आदि ने मोहरूपी विष का शीघ्र वमन कर दिया और संसार की लक्ष्मी तथा घर–कुटुम्ब वगैरह से महान संवेग धारण करके अपने मोह की निंदा करती हुई माता यशोभद्रा भी तप ग्रहण करने को तैयार हो गईं और सुकुमालजी की बत्तीस रानियों में से गर्भवती चार रानियों को अपनी गृह सम्पत्ति आदि देकर शेष अट्ठाईस रानियों एवं कुछ अन्य बांधवों के साथ अपना अन्तरंग–बहिरंग परिग्रह त्याग मुक्ति की प्राप्ति के लिये जिनदीक्षा ग्रहण कर ली।

वृषभांक राजा भी श्री यशोभद्र मुनिराज से अपने पूर्वभवों को सुनकर संसार के विषय सुखों से विरक्त हो अपने छोटे पुत्र को राज्य तिलक कर अपने बड़े पुत्र कनकध्वज एवं अन्य राजपुत्रों के साथ दश प्रकार के बाह्य व चौदह प्रकार के अन्तरंग परिग्रहों को त्याग मुक्तिदायनी जिनदीक्षा को मन, वचन और काय की शुद्धि पूर्वक धारण कर ली।

जिनदीक्षा ग्रहण करने के बाद वे भी तत्ववेत्ता परम तपश्चरण के साथ श्रुताभ्यास एवं ध्यान में लवलीन हो गये। वे पर्वतों में, निर्जनवनों में, नगरों में, ग्रामों आदि में विहार करते हुए मोक्षमार्ग में तत्परता पूर्वक विचरण करने लगे। चार ज्ञान के धारक महायोगी श्री यशोभद्र मुनिराज, श्री सुरेन्द्रदत्त मुनिराज, श्री वृषभांक मुनिराज और योगीश्वर कनकध्वज, ये चारों चरम शरीरी हैं, अतः शुक्लध्यान रूपी खड्ग से समस्त घाति कर्मरूपी शत्रुओं का बल पूर्वक नाश कर, केवलज्ञान प्राप्त कर इन्द्र आदि द्वारा पूजा संस्कार को प्राप्त हो, समयानुसार शेष चार अघाति कर्मों का भी नाश कर सम्यक्त्व आदि आठ गुण संयुक्त अनुपम मोक्ष को चले गये। शेष और भी जो मुनिराज हैं उन सभी ने अपने अपने तपश्चरण के अनुसार सौधर्म स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यंत यथा–योग्य पदों को प्राप्त किया। कितनी ही महिला रत्न जिन्होंने

आर्यिका पद धारण किया है, वे सौधर्म से लेकर अच्युत स्वर्ग पर्यंत महार्धिक देव पदों को प्राप्त हुईं।

सुकुमाल स्वामी का जीव पुण्य और तप के फल द्वारा सर्वार्थसिद्धि नाम के स्वर्ग में उत्पाद शय्या के मध्य रत्नपर्यंक में अहमिन्द्र हुआ। वहाँ अन्तर्मुहूर्त में ही सम्पूर्ण पर्याप्तियाँ पूर्णकर नवयौवन दशा को प्राप्त हो गये और कल्पवृक्ष से निरगत दैवी आभूषण उत्तमोत्तम दैवी वस्त्र, अनुपम मालायें और अदभुत् कांति द्वारा विभूषित हो गये। उस महार्धिक अहमिन्द्र ने शय्या पर से उठकर पुण्य की मूर्ति अन्य अहमिन्द्रों को देख अवधिज्ञान के प्रभाव से यह जान लिया कि यह सब महान तप का फल है। अवधिज्ञान द्वारा उन्हें अपनी पुरानी सभी भवावली का भी ज्ञान हो गया। श्री सुकुमाल स्वामी के जीव अहमिन्द्र ने निश्चय किया कि यह सब कुछ धर्म का फल है इसलिये उनने धर्म में अपनी निष्ठा और दृढ़ कर ली और सब से पहले उस पुण्यवान अहमिन्द्र देव ने धर्म की सिद्धि औार वृद्धि के लिये रत्नमयी ऊँचे अकृत्रिम जिनालयों में जाकर महान तेजोमय जिनबिम्बों की दैवी द्रव्यों से भक्तिपूर्वक पूजा की। भगवान की उत्तमोत्तम गुणपूर्ण स्तोत्रों द्वारा स्तुति की। इस प्रकार अन्य अहमिन्द्रों के साथ उस पुण्यवान चतुर अहमिन्द्र ने उत्कृष्ट पुण्य उपार्जन किया।

इस प्रकार सर्व प्रथम देवाधिदेव श्री जिनेन्द्र देव का पूजन करके उनने अपना स्थान और पूर्व में उपार्जित पुण्य के प्रताप से प्राप्त उत्तम विमान आदि सर्व संपदाओं को स्वीकार किया। सुकुमाल स्वामी का जीव वह महार्धिक अहमिन्द्र अपने स्थान पर ही रहकर तीन लोकवर्ती जिनप्रतिमाओं को, जिनमंदिरों को अपने अवधिज्ञान द्वारा जानकर नमस्कार करते हैं। जब जब भगवान (तीर्थंकरों) के गर्भ, जन्म आदि कल्याणक होते हैं, तब–तब अपने स्थान से हमेशा भगवान को नमस्कार करके स्तुति और भक्ति किया करते हैं।

सिद्धों के पड़ोसी वे महार्धिक अहमिन्द्र मुनिराजों को नमस्कार कर, समस्त कर्मक्षय के लिये निज कारणपरमात्मा की अभेद रूप भक्ति तो कभी कभी ही करते हैं अर्थात् देवों में चार गुणस्थान ही हो सकते हैं, आगे के नहीं, अतः उन्हें चौथे गुणस्थान के योग्य ही आत्मलीनता होती है, परंतु अभेद अनुपचाररूप सतत् भक्ति की भावना होने से उसकी पुष्टी के लिये वे तेतीस

सागर तक अन्य अहमिन्द्रों के साथ पुनरुक्ति रहित तत्त्वचर्चा करते हैं' अर्थात् शब्द तो एक कम इकट्ठी प्रमाण अर्थात् संख्याते ही हैं, इसलिये एक ही शब्द तो अनेक बार आते हैं, परन्तु तत्त्वचर्चा के विषय और भाव भिन्न–भिन्न होते हैं, इसलिये विषय एवं भाव पुनरुक्ति दोष रहित होते हैं; क्योंकि अनन्तगुणों से मंडित चैतन्य प्रभु के एक–एक गुण का वर्णन एक–एक समय में किया जावे तो भी अनन्त गुणों का वर्णन तेतीस सागर की स्थिति में पूरा नहीं हो सकता। वे तो चैतन्य रस के रसिया, सिद्धों के पड़ोसी और अपनी इस तेतीस सागर की देव पर्याय पूर्ण कर मात्र एक मनुष्य जन्म धारण कर उसी भव से सिद्ध पद को प्राप्त करने वाले हैं। अतः उन्हें इस तत्त्वचर्चा के अतिरिक्त कुछ सुहाता ही नहीं है, इसलिये वे अपने उपयोग को अन्यत्र बहुत नहीं भ्रमाते।

मानो उनको दो ही काम रह गये हों, एक तो चैतन्य रस का रस पान और दूसरा चैतन्य रस के सम्बन्ध में भेदविज्ञान मूलक तत्त्वचर्चा।

उनकी कषाय परिणति बहुत ही मंद होती है, इतनी मंद कि उन्हें तीर्थंकरों के पंच कल्याणकों में जाने का भाव भी नहीं आता, तब फिर अन्यत्र जाने की तो बात ही कहाँ रह जाती है। "अहं इन्द्र" अर्थात् मैं इन्द्र हूँ। इस प्रकार वहाँ सभी अहमिन्द्र होते हैं, अतः छोटे–बड़े का वहाँ भेद ही नहीं है, यहाँ तक कि उन अहमिन्द्रों की विभूति, ऋद्धि, संपत्ति एवं पद आदि सभी समान होते हैं। उनकी लेश्या, ज्ञान[1] दैवीसौख्य[2] और भोग उपभोग भी समान होते हैं और सभी एक भवतारी होते हैं।

सभी अहमिन्द्रों में रागभाव की मंदता होने से परस्पर वात्सल्य भावयुक्त होते हैं। उनको स्व–स्वरूप रसास्वादन के समय शुद्धभाव रूप शुद्ध ध्यान और बाहर उपयोग जाने पर शुभ ध्यान होते हैं। वे सदा, मदादि विभाव भावों से रहित होने के कारण पवित्र हृदय के धारक होते हैं। इस प्रकार सभी अपने–अपने मन में महान सुख का अनुभव करते हुए सतत अशरीरी दशा के लिये प्रयत्न परायण रहते हैं। स्वर्गों में जो देवांगनाओं सम्बंधी सुख हैं, उससे भी असंख्यातगुणा उपमारहित कामज्वर रहित अहमिन्द्रों के पद के योग्य महासुख[3] होता है। अहमिन्द्रों को आत्मजनित और

१. वे सभी अहमिन्द्र द्वादशांग के पाठी होते हैं।

२. व ३. उन सभी का गुणस्थान चौथा ही होता है, इसलिये आत्मिक सुख चतुर्थ गुणस्थान के योग्य सभी को समान होता है। बाह्य इन्द्रिय जनित सुख भी समान होता है।

प्रवीचार रहित सुख होता है। तीन लोक में पुण्य के प्रताप से प्राप्त जितना और जो कुछ सुख संभव है वह सब सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्रों के होता है, उस सुख में दुःख का अर्थात् इन्द्रिय विषयों की प्रतिकूलता जनित दुःख का अंश भी नहीं रहता। इस प्रकार समस्त दिव्य लक्षणों से युक्त वह सुकुमाल स्वामी का जीव अत्यन्त धर्मभाव पूर्वक अहमिन्द्र पद के उत्कृष्ट सुखों को भोग रहा है।

अनाहारी पद को साधते साधते ही मध्यलोक से प्रस्थान कर श्री सुकुमाल स्वामी सर्वार्थसिद्धि को पहुँचे हैं। वहाँ उन्हें तेतीस हजार वर्षों के बाद एक बार आहार का विकल्प उठता है, विकल्प उठते ही स्वतः कंठ में अमृत झरने लगता है, वही उनके संपूर्ण शरीर को दिव्य और आनन्द दायक आहार होता है। तेतीसपक्ष[1] के बाद एक बार श्वांस लेते हैं। उन्हें अवधिज्ञान होने से अवधिज्ञान की मर्यादा के अनुकूल क्षेत्र में स्थित मूर्तिक पदार्थों को वे अपने स्थान पर रहते हुए ही जान लेते हैं। उन्हें उनकी मर्यादा के योग्य क्षेत्र पर्यंत गमन करने की विक्रियाऋद्धि प्राप्त होती है तथा उनको उत्कृष्ट शुक्ल लेश्या होती है। वे हमेशा धर्म ध्यान में तत्पर रहते हैं। उन्हें कहीं जाने आने का विकल्प भी नहीं उठता। उनका शरीर एक हाथ प्रमाण ऊँचा और वैक्रियक होता है अर्थात् उनके शरीर में सप्तधातु, मल, मूत्र, पसेव आदि शारीरिक मल नहीं होते एवं नेत्र भी टिमकार रहित होते हैं।

अशरीरी होने के लिये अन्तिम जन्म

श्री सुकुमाल स्वामी का जीव महार्धिक अहमिन्द्र सर्वार्थसिद्धि से यहाँ आकर/मनुष्य भव प्राप्त कर श्रेष्ठ कुल में जन्म लेकर, तप अर्थात् रत्नत्रय रूप आचरण द्वारा अवश्य मोक्ष को प्राप्त करेगा। वे अभी सुखसागर में मग्न, अनिष्टसंयोग और इष्टवियोग से रहित, समस्त सुखों से युक्त सर्वार्थसिद्धि में विराजमान हैं। इस प्रकार तप एवं चारित्र के प्रभाव से अनुपम सुखों से पूर्ण, दुःख नाम से भी रहित, सभी विकारों से रहित सुखों को वे अहमिन्द्र भोग रहे हैं। बुद्धिमानों का कर्तव्य है कि वे भी सुख प्राप्ति हेतु आचरण शुद्धि पूर्वक धर्म की साधना करें।

सम्यग्चारित्र ही अनन्त गुणों का दाता है और सम्यग्दर्शन ही उसकी

१. पन्द्रह दिन का एक पक्ष होता है।

जड़ है। ऐसे सम्यग्चारित्र का ही योगीजन आश्रय लेते हैं। चारित्र को नमस्कार हो। उस सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्र के अलावा अन्य कोई कल्याण करने वाला नहीं है। इसलिये मैं चारित्र में ही अपने उपयोग को लगाता हूँ और भावना भाता हूँ कि मुझे भी ऐसा पूर्ण चारित्र शीघ्र प्रगट हो।

आचार्य श्री सकलकीर्तिजी, रचित यह वैराग्य स्स उत्पादक ग्रन्थ है। इसमें महातपस्वी, महाध्यानी श्री सुकुमालजी के भवान्तरों का वर्णन किया गया है, जिसमें उन्होंने पूर्वकृत पापकर्मों से बंधे कर्मों के उदय में अत्यन्त दुःख भोगे हैं, उन्हें पढ़ते ही एक बार तो नास्तिक भी पिघल जावे, ऐसा वर्णन कर इस जगत के दुःखी जीवों को संबोधा है।

है मोक्ष की अभिलाष, अर भयभीत है संसार से ।
है समर्पित यह देशना, उन भव्य जीवों के लिये।।
अनन्त है संसार-सागर,जीव काल अनादि है।
पर सुख नहीं बस दुःख पाया, मोह-मोहित जीव ने ।।
भयभीत है यदि चतुर्गति से, त्याग दे परभाव को।
परमात्म का ध्यान कर तो परम सुख को प्राप्त हो।।

धर्मोपदेश

हे भव्य आत्माओ ! यदि आप को मोक्ष की इच्छा हो, अर्थात् (अनन्त संसार–सागर में चिरकाल से भ्रमते–भ्रमते दुःख ही दुःख भोगे, सुख की तो कहीं परछाईं भी नहीं मिली) संसार–सागर से छूटने का यदि वास्तव में तेरा मन हुआ हो तेा संसारवर्द्धक भावों को तज दे।

श्री सुकुमाल स्वामी के जीव ने धर्मधारण करने से पूर्व वायुभूति की पर्याय से लगाकर तीन पर्यायें तिर्यंच की, एक पर्याय चंड़ाली अंधपुत्री की और एक पर्याय नागश्री ब्राह्मण कन्या की, और एक पर्याय देव की प्राप्त की। ये सभी पर्यायें संज्ञी पंचेन्द्रिय की ही थीं। जब संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्यायों के अनन्त दुःख ही मुख से नहीं कहे जा सकते तब फिर नरक–निगोद की अनन्तानन्त पर्यायों में जो अनन्तानन्त दुःख भोगकर यह जीव आया है, उनका वर्णन कैसे किया जा सकता है ?

भाई ! उन पर्यायों का दुःख तो भोगने वाला भोगे और केवली भगवान जाने और कोई तो उन्हें जानने में समर्थ ही नहीं। इसलिये श्री गुरु अर्थात्

स्वरूप लक्ष्मी से सम्पन्न गुरु तुझे करुणा करके धर्मामृत का पान कराते हैं।

हे जीव ! तूं भी भव और भव के भावों से ड़र कर निज भगवान आत्मा को भज। इसी का नाम धर्म है, यही धर्मामृत का पान है।

ऐसा उत्तम वीतराग धर्म सर्वज्ञ देव द्वारा प्रणीत है। जो अनन्त गुणों का दीपक और समस्त दोषों का नाशक है । ध्यानी मुनिराज इसी धर्म का आश्रय लेते हैं। धर्म से ही मोक्ष सुख की साधना होती है। धर्म के साधकों को साधना की पूर्णता में मोक्ष प्राप्त होता है और अल्प कषायांश रह जाने की स्थिति में सातिशय पुण्य का बंध होता है, जिसके फल स्वरूप अत्यन्त उत्तम विभूतियाँ, जैसे इन्द्र, अहमिन्द्र, चक्रवर्ती, बलभद्र, नारायण, प्रतिनारायण आदि के पद प्राप्त होते हैं।

जैसे सधवा स्त्री का श्रृंगार शोभा को प्राप्त होता है, वैसे ही धर्म से ही राज्य आदि सम्पदा शोभा को प्राप्त होती है। सम्यक्त्व और संयम ही धर्मस्वरूप हैं, धर्म हैं। निज स्वरूप की गुप्त गुफा में विश्रांत उपयोग में ही घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करने की सामर्थ है। उपयोग की अन्तर्मुहूर्त मात्र निश्चल स्वरूप लीनता हो शाश्वत निर्वाण अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कराती है। सिद्ध प्रभु के निकटवर्ती पड़ोस सर्वार्थसिद्धि का अहमिन्द्रपना भी धर्म से ही प्राप्त होता है। पंचेन्द्रियों की पूर्णता, अविकलता, स्वास्थ्य लाभ और इन्द्रियों के अनुकूल भोग्य सामग्री की उपलब्धि तो व्यवहार धर्म मात्र से पनपने वाले पुण्य के फल में ही हो जाती है। ऐसा पुण्यानुबंधी पुण्य मात्र धर्मात्मा को ही बँधता है।

लोक में प्रतिष्ठा, सत्धर्म की प्राप्ति, धर्मात्माओं की सत्संगति, मनोहर रूप, धार्मिक परिवार का मिलना, मनवांछित भोग–सामग्री इत्यादि सभी पुण्योदय से प्राप्त होते हैं। उत्तम पदों की प्राप्ति, बाह्य–अभ्यंतर शत्रुओं पर विजय आदि की प्राप्ति धर्म से ही होती है। इसलिये बुधजनों को मन–वचन–काय की शुद्धता पूर्वक सदा सर्वज्ञ देव द्वारा प्रणीत वीतरागी धर्म का ही आश्रय लेना चाहिए।

आचार्य भगवंतों ने धर्म की अतिसंक्षेप में परिभाषा बतलाई है–"समस्त संसार दुःखों का नाशक और सम्पूर्ण मनोवांछित अर्थों का दायक, परमार्थभूत एक अद्वितीय, आत्मिक सुख का दाता धर्म ही है।" ऐसे धर्म को शत शत बार नमस्कार हो।

लेखक की लघुता और प्रार्थना

हे प्रभो ! मुझे भी शीघ्र अतीन्द्रिय आनंदमयी धर्म प्रगट हो और मेरा मन सदा उस धर्म में ही लगा रहे इस भावना से ही यह सारभूत, वैराग्य जनक, सिद्धान्त गर्भित और भक्तिरस से भरपूर सुकुमाल स्वामी का चरित्र रचा है।

कैसे हैं श्री सुकुमाल मुनिराज ?

तीन लोक से वंदनीय और आत्मिक अतीन्द्रिय आनंद से मालामाल हैं। परमार्थ सुख के कमाल को प्रत्यक्ष दिखाने वाले हे मुनिपुंगव ! मुझे भी कर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने का बल प्रदान कीजिए एवं मेरे समस्त उपद्रवों का नाश कीजिए।

समस्त अशुभ कर्मों का विनाशक—ऐसा सर्वोकृष्ट समाधिमरण एवं उत्तम क्षमादि गुणों का समुदाय मुझे भी दीजिये यही मेरी प्रार्थना है।

आचार्य भगवंत तो गुणों के सागर और ज्ञानादि के अक्षय भंडार होने पर भी अंत में अपनी लघुता बताते हैं उनके सामने मुझ जैसे पामर का क्या कहना। फिर भी यह ग्रन्थ रचने का साहस किया है, यह तो सूर्य को दीपक दिखाने जैसी वाचालता है। अज्ञान वश कुछ त्रुटियाँ रह गईं हों, प्रमादवश अक्षर, मात्रा, स्वर आदि में, पदों के जोड़ आदि में कुछ चूक हुई हो तो, हे बहुत श्रुतज्ञानी गुरुजन ! मेरे अपराधों को क्षमा करें और ग्रन्थ की शुद्धि करें। हे महा भगवती, पारमेश्वरी जिनवाणी माँ ! मुझे क्षमा करना।

मोक्ष के अभिलाषी जो भव्यजन इसे पढ़ेंगे, वे समस्त श्रुत के पारगामी हो परम पद को प्राप्त होंगे और जो निपुणजन इसका श्रवण करेंगे, वे तत्काल राग—द्वेष का नाशकर परम वीतराग धर्म का अनुभव करेंगे।

यह चरित्र कैसा है ? यह चरित्र मुनि—श्रावक धर्म का मूल बीजभूत है। बंध का विध्वंसक विकार विदारक और निर्मल सुखों का निधान है।

अंत मंगलस्वरूप पंचपरमेष्ठी भगवंतों को सामूहिक रूप से नमस्कार करता हूँ। अनन्तगुणों के निवास स्थान, सर्वलोक के परमेश्वर ऐसे वृषभादि वीर पर्यंत चौबीस तीर्थंकर भगवंतों को नमस्कार करता हूँ। विदेहक्षेत्र में विद्यमान बीस तीर्थंकर देवों को, सम्यक्त्वादि अष्टगुण सहित ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों से रहित, परमपद में विराजमान श्री सिद्ध परमेष्ठी को, शिवसुख के साधक, छत्तीसगुणयुक्त, दीक्षादायक, महाहितकारी श्री आचार्य परमेष्ठी को, द्वादशांग श्रुतसागर के पारगामी, पच्चीस गुण सम्पन्न श्री उपाध्याय परमेष्ठी

को तथा अट्ठाईस मूलगुणों के धारक, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र की एकता रूप मुक्तिमार्ग के साधक समस्त साधु परमेष्ठी को मैं नमस्कार करता हूँ। हे पंच परम प्रभुवर ! इस सुकुमाल चरित्र की पूर्णता करके मैं आप जैसे परमसुख की प्रार्थना करता हूँ यही उत्तम वर मुझे दीजिए।

निर्मल गुणों की खान, तीन लोक में अद्वितीय दीपक समान, समस्त दोषों से रहित, कल्याण एवं सुख की प्रदाता, कर्मक्षय की हेतुभूत, चार ज्ञान के धारी संतों द्वारा पूज्यनीय, ऐसी जिनवाणी माँ सम्यग्ज्ञान रूप परमतीर्थ, भूतल में यह अद्वितीय चक्षु अतिशय रूप से जयवंत वर्तो। अन्त में जिनवाणी की जयवंतरूप मंगल कर ग्रन्थ की पूर्णता करते हुए मैं श्री यशोभद्रस्वामी, श्री सुरेन्द्रदत्त स्वामी, श्री वृषभांक स्वामी एवं श्री कनकध्वज स्वामी इन चार सिद्ध भगवंतों को त्रियोग पूर्वक नमस्कार कर तथा श्री यशोभद्रा आदि आर्यिका माताओं को वंदामि करते हुए ग्रन्थ पूर्ण हुआ।

।। इति श्री सुकुमाल चरित्रं सम्पूर्णम्।।

आत्मसाधक साधकों की
ज्ञान-वैराग्यमय भावनाओं का दिग्दर्शन

है आत्मा परमात्मा, परमात्मा ही आत्मा।
हे योगीजन यह जानकर, कोई विकल्प करो नहीं।।
यदि चाहते हो मुक्त होना, चेतनामय शुद्ध जिन।
अर बुद्ध केवलज्ञान मय निज, आत्मा को जान लो।।
त्रैलोक्य के जो ध्येय, वे जिनदेव ही हैं आत्मा।
परमार्थ का यह कथन है, निर्भ्रान्त यह तुम जान लो।।
पुण्य से हो स्वर्ग, नरक निवास होवे पाप से।
पर मुक्ति–रमणी प्राप्त होती, आत्मा के ध्यान से।।
व्रत शील संयम तप सभी हैं, मुक्तिमग व्यवहार से।
त्रैलोक्य में जो सार है, वह आत्मा परमार्थ से।।
है आत्मा बस एक चेतन, आत्मा ही सार है।
बस और सब है अचेतन, यह जान मुनिजन शिव लहें।।
यदि चाहते हो मोक्षसुख तो, योगियों का कथन यह।
हे जीव ! केवलज्ञान मय, इस आत्मा को जान लो।।
सुसमाधि अर्चन मित्रता, अर कलह एवं वंचना।
हम करें किसके साथ किसकी, हैं सभी जब आत्मा।।
जर्जरित है नरक सम यह, देह–ऐसा जानकर।
यदि करो आतम भावना, तो शीघ्र ही भव–पार हो।।
जो होवेंगे या हो रहे, या सिद्ध अब तक जो हुए।
यह बात है निर्भ्रान्त वे, सब आत्म दर्शन से हुए।।

।।ॐ शांति।।